अहिंसक क्रान्ति का पाक्षिक मुख-पत्र

सर्वोदय जगत

वर्ष- 43, अंक- 24, 1-15 अगस्त 2020

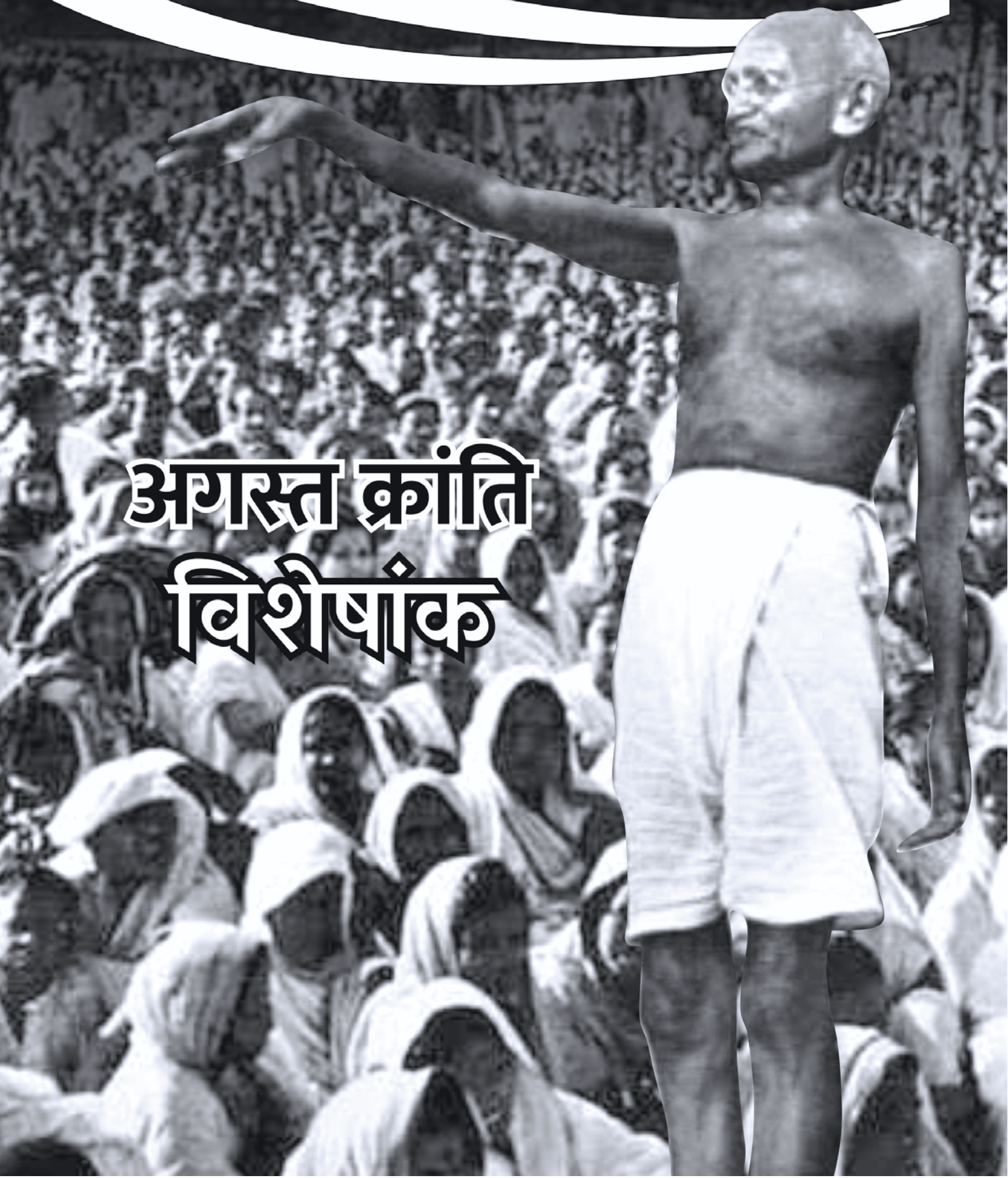

अगस्त क्रांति विशेषांक

सर्व सेवा संघ
(अखिल भारत सर्वोदय मंडल)
द्वारा प्रकाशित
अहिंसक क्रान्ति का पाक्षिक मुख-पत्र
सर्वोदय जगत
सत्य, अहिंसा एवं सर्वोदय-सम्पूर्ण क्रांति का संदेश वाहक
वर्ष : 43, अंक : 24, 01-15 अगस्त 2020

अध्यक्ष
महादेव विद्रोही

संपादक
बिमल कुमार
सहसंपादक
प्रेम प्रकाश
09453219994
संपादक मंडल
डॉ. रामजी सिंह **भवानी शंकर कुसुम**
प्रो. सोमनाथ रोडे **अरविन्द अंजुम**
अशोक मोती

संपादकीय कार्यालय
सर्व सेवा संघ
राजघाट, वाराणसी-221001 (उ.प्र.)
फोन : 0542-2440-385/223
ईमेल : sarvodayajagat@gmail.com
Website : sssprakashan.com

शुल्क

एक प्रति	:	05 रुपये
वार्षिक	:	100 रुपये
आजीवन	:	1000 रुपये

खाता संख्या : 383502010004310
IFSC Code : UBIN0538353
Union Bank of India
Rajghat, Varanasi

इस अंक में...

1. संपादकीय... 2
2. अध्यक्ष की कलम से... 3
3. भारत छोड़ो आंदोलन और भारत... 4
4. राष्ट्रीय तेजस्विता का आकाश... 6
5. भारत का विभाजन और गांधी... 8
6. सावरकर और श्यामाप्रसाद मुखर्जी... 10
7. यह लौ जलती रहे!... 11
8. गांधी का अनूठा सिपाही... 12
9. वास्तव में हम चुप हो गये हैं... 14
10. खबरों पर सरकारी नियंत्रण की... 16
11. घुमन्तू जातियों का दर्द समझने की... 17
12. इतिहास के हवाले से... 19
13. कविताएं... 20

संपादकीय

अगस्त क्रांति की भावना पुनर्जीवित करें

इतिहास के कुछ क्षण राष्ट्र की सामूहिक स्मृति में लंबे समय तक बने रहते हैं, जो हमें प्रेरणा भी देते हैं तथा किन तत्त्वों से सावधान रहना है, उनसे भी सचेत करते हैं। अगस्त क्रांति यानी 9 अगस्त 1942 को भारत छोड़ो आंदोलन का आह्वान तथा स्वतंत्रता दिवस—ये दोनों ऐसे ही क्षण हैं।

अगस्त क्रांति ने भारतीय जन समुदाय की स्वतंत्रता तथा न्यायपूर्ण व्यवस्था की आकांक्षा को मुखर रूप दिया। भारतीय जन समुदाय की अद्भुत एकता प्रकट हुई। यह एकता औपनिवेशिक शासन के खिलाफ थी, वैश्विक पूंजीवादी शोषण के खिलाफ थी, भारत में सभी विभाजनकारी शक्तियों (मुख्यतः सांप्रदायिक विभाजन के पैरोकारों) के खिलाफ थी तथा जमींदारी व रजवाड़ों के खिलाफ थीं। इस रूप में अगस्त क्रांति एक नये समाज के निर्माण का सूत्र भी प्रस्तुत करते हुए दीखती है। उसकी आज भी उतनी ही प्रासंगिकता है।

दूसरी ओर उसी समय में सांप्रदायिक शक्तियां जमींदारों और रजवाड़ों की सरपरस्ती में व उनके सहयोग से औपनिवेशिक शासन के पक्ष में खड़ी थीं। मुस्लिम लीग तथा हिन्दू महासभा दोनों संप्रदाय आधारित राष्ट्र के पैरोकार थे तथा दोनों ने हाथ मिलाकर 4 राज्यों में गठबंधन कर सरकार बनायी थी। बंगाल में तो इन शक्तियों ने व्यापक रूप से जनता से अपील की कि सेना में शामिल हों, ताकि पूर्वी सीमा पर आसन्न युद्ध में ये भारत की ओर से लड़ सकें। इसमें यह बात छिपी थी कि भारत में ब्रिटिश शासन को मजबूत करें तथा आजाद हिन्द फौज को हराने में पूरी ताकत लगायें। सांप्रदायिक शक्तियों का वैश्विक विस्तारवादी पूंजीवाद से गठजोड़ औपनिवेशिक काल में ही मजबूत हो चुका था।

पाकिस्तान में तो सांप्रदायिक शक्तियों, जमींदारों एवं वैश्विक विस्तारवादी पूंजीवाद का गठजोड़ प्रारंभ से ही बना रहा, इसी कारण सेना की भूमिका महत्त्वपूर्ण बनी रही तथा पूरा सत्ता प्रतिष्ठान जन-विरोधी बना रहा। भारत में सांप्रदायिक शक्तियों को जड़ जमाने में लगभग 40 वर्ष लग गये। यद्यपि इन शक्तियों ने अपनी व अंग्रेजी शासन की भूमिका छिपाने (यहां तक कि मुस्लिम लीग की भी भूमिका छिपाने) का पूरा प्रयास किया तथा भारत विभाजन का दोष कांग्रेस के नेताओं (गांधी, नेहरू व पटेल) पर डालने का पूरा प्रयास किया। इसी आधार पर सत्ता पर पहुंच बनाने का प्रयास भी हुआ। किन्तु भारत के गांव-गांव, मुहल्ले-मुहल्ले में लोगों ने देखा था कि सांप्रदायिक शक्तियां अंग्रेजी सत्ता के पक्ष में खड़ी थीं, इसलिए इन्हें पूरी तरह से अस्वीकार कर दिया गया। उस पीढ़ी के गुजर जाने के बाद ही झूठ की बुनियाद पर नये सिरे से सांप्रदायिक व वैश्विक विस्तारवादी पूंजीवाद का गठजोड़ भारत में पुनः मजबूत बनाने में सफल हुआ दीखता है।

भारत के संसाधनों तथा भारत के बाजार पर वैश्विक पूंजी, विशेषकर वित्तीय पूंजी का कब्जा अभूतपूर्व गति से बढ़ा है। सार्वजनिक उद्यमों तथा संस्थाओं को तेजी से विसर्जित किया जा रहा है, जो निजी कारपोरेट पूंजी पर अंकुश रखने का माध्यम बन सकते थे। निजीकरण से प्राप्त धन भी कारपोरेट जगत के डूबे कर्ज (एनपीए) की प्रतिपूर्ति के लिए किया जा रहा है।

इस बीच कोरोना वैश्विक महामारी को कारपोरेट जगत ने 'आपदा को अवसर में बदलने' का काम किया है। लघु एवं मध्यम इकाइयां पहले से ही संकट में थीं। किसान, मजदूर, आदिवासी आदि की स्थिति बिगड़ती जा रही थी तथा बेरोजगारी व बदहाली बढ़ रही थी। कोरोना महामारी के दौर में ये सब पूर्ण बर्बादी के कगार पर आ गये।

एक और बड़ी बात यह हुई है कि सामाजिक क्षेत्रों में भी गिरावट आने से बदहाली बढ़ी है। उदाहरण के लिए 'सेव द चिल्ड्रेन' की एक रिपोर्ट के अनुसार दुनिया भर में 9 करोड़ से 11.7 करोड़ बच्चे गरीबी के बढ़ने के कारण स्कूल की शिक्षा से बाहर हो जायेंगे। शिक्षा बजट मे कटौती का प्रभाव इसे और बढ़ा सकता है। इतना ही नहीं, स्वास्थ्य क्षेत्र की स्थिति भी बद से बदतर होती जा रही है। कोरोना से हटकर अन्य बीमारियों का इलाज दुश्वार होता जा रहा है। जिन्हें स्वास्थ्य केन्द्रों की सुविधा नहीं मिल पा रही है, ऐसे लोगों की मृत्यु की संख्या का अनुमान लगाना मुश्किल है और इन सबके बीच राजसत्ता ने जन-दमन करने की शक्ति कई गुना बढ़ा ली है व लोक स्वातंत्र्य का दायरा काफी हद तक सिकोड़ कर कमजोर कर दिया है।

–बिमल कुमार

अध्यक्ष की कलम से

❑ महादेव विद्रोही

कोरोना का कहर जारी है

इन पंक्तियों के लिखते-लिखते देश भर में कोरोना से 14,35,453 लोग संक्रमित हुए हैं तथा 32771 लोगों की मृत्यु हो चुकी है। पिछले एक महीने से इसकी रफ्तार तेज हो गयी है और पिछले एक सप्ताह से यह नित नये रिकार्ड बना रही है। ऐसे में आम आदमी के लिए जीना दुष्कर हो गया है।

बिहार में सरकार की अकर्मण्यता एवं लापरवाही के कारण पूरे राज्य में त्राहिमाम मच गया है। राज्य सरकार के एक निर्णय के अनुसार जो जिस जिले में रहते हैं, उन्हें उसी जिले में इलाज कराना पड़ेगा, जबकि जिला अस्पतालों की हालत इतनी दयनीय है कि वहां गंभीर रोगों का इलाज हो पायेगा, लोगों में से यह विश्वास उठ गया है। बिहार में गिनी चुनी जगहों पर ही कोरोना की जांच की सुविधा उपलब्ध है। इन जगहों से भी रिपोर्ट आने में 15-15 दिन का समय लग जाता है।

पिछले दिनों भागलपुर में एक व्यक्ति को शंका हुई कि कहीं उसे कोरोना तो नहीं हो गया है। वह अपनी जांच कराने अस्पताल पहुंचा तो उसे सात दिन बाद आने के लिए कहा गया। इस बीच उसकी मृत्यु हो गयी। मृत्यु के बाद जांच से पता चला कि उसे कोरोना था।

पिछले दिनों राजधानी पटना में गृह विभाग के उपसचिव को अखिल भारत आयुर्विज्ञान संस्थान के फुटपाथ पर तड़पना पड़ा। घंटों बाद उन्हें नालंदा मेडिकल कॉलेज जाने के लिए कहा गया। वहां उन्हें भरती तो किया गया, लेकिन परिवार वालों को अंदर जाने नहीं दिया गया और न ही उन्हें किसी प्रकार की जानकारी ही दी गयी। अंततः उपसचिव महोदय ने यहीं अपनी आंखें मूंद लीं। बिहार सरकार के एक भूतपूर्व मंत्री भी कोरोना से संक्रमित हो गये। उनका भी वही हाल हुआ, जो गृह विभाग के उपसचिव महोदय का हुआ। ये घटनाएं बताती हैं कि बिहार की स्वास्थ्य व्यवस्था कितनी लचर है तथा प्रशासन कितना संवेदनशून्य और लापरवाह है। जब उच्च पदों पर बैठे लोगों के साथ यह व्यवहार हो सकता है, तो आम लोगों का क्या हाल होगा, इसकी महज कल्पना ही की जा सकती है।

कोरोना और आत्महत्याएं

तालाबंदी के कारण देश की अर्थव्यवस्था की कमर टूट चुकी है। आम जन बेहाल है। इस अवधि में आर्थिक संकट से जूझ रहे अनेक लोगों ने आत्महत्या का रास्ता अख्तियार किया है। 'गुजरात समाचार' में 15 जुलाई 2020 को प्रकाशित एक रिपोर्ट के अनुसार अहमदाबाद शहर में पिछले 45 दिनों में 11 व्यक्तियों ने आर्थिक बेहाली के कारण आत्महत्या की है। इनमें से सभी निम्न आय वर्ग के लोग थे, जो रोज कमाते और खाते हैं। झारखंड से मिल रहे समाचारों के अनुसार वहां भी सौ से अधिक गरीबों ने आत्महत्या की है। यह घटना पूरे समाज और सरकार के लिए खतरे की घंटी है। हमें अपने तौर-तरीकों पर पुनर्विचार करना ही पड़ेगा, नहीं तो यह विकराल रूप भी ले सकता है।

दुनिया का सबसे अमीर व्यक्ति भारत में

तालाबंदी के दौरान, जब पूरा भारत आर्थिक सहित अनेक संकटों से गुजर रहा है, तो इसी अवधि में गरीब देश भारत के मुकेश अंबानी दुनिया के सबसे धनाढ्य व्यक्ति घोषित हो गये हैं। कई लोगों के लिए आपदाएं भी कमाई का साधन बन जाती हैं। मुझे नहीं मालूम कि मुकेश अंबानी का नाम दुनिया के सबसे अमीर व्यक्ति के तौर पर कैसे शुमार हो गया, पर यह समाचार सुनकर गहरा धक्का जरूर लगा है। इस समाचार से इतना तो साफ हो गया है कि देश की बदहाली का देश के सबसे धनाढ्य व्यक्ति पर कोई असर नहीं पड़ता है। उनकी चिन्ता शायद लगातार अपनी संपत्ति को बढ़ाते रहने की है।

भारत और नेपाल

सदियों से भारत और नेपाल अच्छे पड़ोसी रहे हैं। नेपाल के लाखों लोग भारत में तथा भारत के लाखों लोग नेपाल में रहते हैं। कहा जाता है कि नेपाल का लगभग पूरा व्यापार भारतीय मूल के लोगों के हाथों में है।

सीमावर्ती राज्य उत्तराखंड, उत्तर प्रदेश, बिहार और पश्चिम बंगाल तथा दूसरी ओर नेपाल के इससे सटे जिलों को तो यह लगता ही नहीं है कि हमारे बीच किसी देश की सीमारेखा भी है। दोनों देशों के लोग एक दूसरे के यहां आते जाते तो रहते ही हैं, साथ ही उनका रोटी बेटी का भी संबंध है।

पिछले दिनों भारत और नोपाल की सरकारों के संबंध बिगड़ने के कारण सीमावर्ती राज्यों के लोग चिन्तित हो गये हैं। यह चिन्ता सिर्फ सामाजिक और आर्थिक ही नहीं, बल्कि सामरिक भी हैं। उन्हें लगता है कि यदि नेपाल की भारत से दूरी बढ़ेगी तो चीन से नजदीकियां बढ़ेंगी। यह नजदीकी भारत के लिए खतरनाक साबित हो सकती है। नेपाल के विकास कार्यों में सहयोग देने या अन्य किसी बहाने चीन की सेनाएं नेपाल के रास्ते भारत की सीमाओं तक आ सकती हैं। अभी तो हम पश्चिमोत्तर सीमा तथा अरूणाचल सीमा पर चीन से खतरा महसूस कर रहे हैं। अब इसके बाद नेपाल की सीमाओं पर भी इसी तरह का खतरा उपस्थित हो सकता है।

हमारी सरकार से अपील है कि इस समस्या का समाधान राजनयिक प्रयासों से किया जाय। हथियारों और सेना से किसी समस्या का समाधान नहीं हो सकता।

पत्रकारों का जीवन खतरे में

पिछले दिनों दिल्ली के एक पत्रकार तरुण सिसोदिया ने आत्महत्या कर ली। वे जिस अखबार में काम करते थे, उस अखबार ने उन्हें मुक्त करने की नोटिस दे दी थी। ऐसे में भावी संकट को देखते हुए इस पत्रकार ने आत्महत्या कर ली। आत्महत्या किसी समस्या का समाधान नहीं है, पर दूसरी ओर हमारी यह भी जिम्मेवारी है कि हम ऐसी स्थिति का निर्माण नहीं होने दें, जिससे किसी को आत्महत्या जैसे कठिन मार्ग पर जाना पड़े।

दूसरी घटना भी एक पत्रकार से संबंधित है। गौतमबुद्ध नगर, उत्तर प्रदेश में एक पत्रकार विक्रम जोशी ने अपनी भतीजी के साथ दुर्व्यवहार रोकने की कोशिश की तो उनकी बेटी के सामने ही उस आततायी ने उन्हें गोली मार दी। पिछले कुछ समय से उत्तर प्रदेश में हत्याएं सामान्य बात हो गयी हैं। सरकार की ओर से इस पर किसी प्रकार की कोई प्रतिक्रिया देखने को नहीं मिली। यह दिखाता है कि कानून व्यवस्था शासनतंत्र के हाथों से निकलकर गुण्डों के हाथ में आ गयी है। ❑

भारत छोड़ो आंदोलन और भारत का शासक वर्ग

❑ डॉ. प्रेम सिंह

''यह एक छोटा-सा मंत्र मैं आपको देता हूं। आप इसे हृदयपटल पर अंकित कर लीजिए और हर श्वास के साथ उसका जाप कीजिए। वह मंत्र है – 'करो या मरो'। या तो हम भारत को आजाद करेंगे या आजादी की कोशिश में प्राण दे देंगे। हम अपनी आंखों से अपने देश को सदा गुलाम और परतंत्र बने रहना नहीं देखेंगे। प्रत्येक सच्चा कांग्रेसी, चाहे वह पुरुष हो या स्त्री, इस दृढ़ निश्चय से संघर्ष में शामिल होगा कि वह देश को बंधन और दासता में बने रहने को देखने के लिए जिंदा नहीं रहेगा। ऐसी आपकी प्रतिज्ञा होनी चाहिए।''

—अखिल भारतीय कांग्रेस कमेटी की बैठक में दिए गए गांधीजी के भाषण का अंश

डॉ. राममनोहर लोहिया ने 2 मार्च 1946 को भारत के वायसराय लार्ड लिनलिथगो को एक लंबा पत्र लिखा था। वह पत्र महत्वपूर्ण है और गांधीजी ने उसकी सराहना की थी। पत्र ब्रिटिश साम्राज्यवाद के क्रूर और षड़यंत्रकारी चरित्र को सामने लाता है। लोहिया ने वह पत्र जेल से लिखा था। भारत छोड़ो आंदोलन में इक्कीस महीने तक भूमिगत भूमिका निभाने के बाद लोहिया को बंबई में 10 मई 1944 को गिरफ्तार किया गया। पहले लाहौर किले में और फिर आगरा में उन्हें कैद रखा गया। लाहौर जेल में ब्रिटिश पुलिस ने उन्हें अमानुषिक यंत्रणाएं दीं। दो साल कैद रखने के बाद जून 1946 में लोहिया को छोड़ा गया। इस बीच उनके पिता का निधन हुआ, लेकिन लोहिया ने छुट्टी पर जेल से बाहर आना गंवारा नहीं किया।

वायसराय ने कांग्रेस नेताओं पर भारत छोड़ो आंदोलन के दौरान सशस्त्र बगावत की योजना बनाने और आंदोलन में बड़े पैमाने पर हिस्सा लेने वाली जनता पर हिंसक गतिविधियों में शामिल होने का आरोप लगाया था। उस समय के तीव्र वैश्विक घटनाक्रम और बहस के बीच वायसराय यह दिखाने की कोशिश कर रहे थे कि ब्रिटिश शासन अत्यंत न्यायप्रिय व्यवस्था है और उसका विरोध करने वाली कांग्रेस व भारतीय जनता हिंसक और निरंकुश है। आजादी मिलने में केवल साल-दो साल बचा था, लेकिन वायसराय ऐसा जता रहे थे, मानो भारत पर हमेशा के लिए शासन करने का उनका जन्मसिद्ध अधिकार है!

पत्र में लोहिया ने वायसराय के आरोपों का खंडन करते हुए निहत्थी जनता पर ब्रिटिश हुकूमत के भीषण अत्याचारों को सामने रखा। उन्होंने कहा कि आंदोलन का दमन करते वक्त देश में कई जलियांवाला बाग घटित हुए, लेकिन भारत की जनता ने दैवीय साहस का परिचय देते हुए अपनी आजादी के लिए अहिंसक संघर्ष किया। लोहिया ने वायसराय के उस बयान को भी गलत बताया, जिसमें उन्होंने भारत छोड़ो आंदोलन में एक हजार से भी कम लोगों के मारे जाने की बात कही। लोहिया ने वायसराय को कहा कि उन्होंने असलियत में पचास हजार देशभक्तों को मारा है। उन्होंने कहा कि यदि उन्हें देश में स्वतंत्र घूमने की छूट मिले तो वे इसका प्रमाण सरकार को दे सकते हैं। लोहिया ने पत्र में लिखा, ''श्रीमान लिनलिथगो, मैं आपको विश्वास दिलाता हूं कि यदि हमने सशस्त्र बगावत की योजना बनाई होती, लोगों से हिंसा अपनाने के लिए कहा होता तो आज गांधीजी स्वतंत्र जनता और उसकी सरकार से आपके प्राणदंड को रुकवाने के लिए कोशिश कर रहे होते।''

लोहिया ने वायसराय को उनका बर्बर चेहरा दिखाते हुए लिखा, ''आपके आदमियों ने भारतीय माताओं को नंगा कर, पेड़ों से बांध, उनके अंगों से छेड़छाड़ कर जान से मारा। आपके आदमियों ने उन्हें जबरदस्ती सड़कों पर लिटा-लिटा कर उनके साथ बलात्कार किए और जानें लीं। आप फासिस्ट प्रतिशोध की बात करते हैं, जबकि आपके आदमियों ने पकड़ में न आ पाने वाले देशभक्तों की औरतों के साथ भी बलात्कार किए और उन्हें जान से मारा। वह समय शीघ्र ही आने वाला है, जब आप और आपके आदमियों को इसका जवाब देना होगा।'' कुर्बानियों की कीमत रहती है, इस आशा से भरे हुए लोहिया ने व्यथित करने वाले उन क्षणों में वायसराय को आगे लिखा, ''लेकिन मैं नाखुश नहीं हूं। दूसरों के लिए दुख भोगना और मनुष्य को गलत रास्ते से हटा कर सही रास्ते पर लाना तो भारत की नियति रही है। निहत्थे आम आदमी के इतिहास की शुरुआत 9 अगस्त की भारतीय क्रांति से होती है।''

भारत के स्वतंत्रता आंदोलन के इतिहास में अगस्त क्रांति के नाम से मशहूर भारत छोड़ो आंदोलन का करीब तीन-चार साल का दौर अत्यंत महत्वपूर्ण होने के साथ पेचीदा भी है। यह आंदोलन देशव्यापी था, जिसमें बड़े पैमाने पर भारत की जनता ने हिस्सेदारी की और अभूतपूर्व साहस तथा सहनशीलता का परिचय दिया। लोहिया ने ट्राटस्की के हवाले से लिखा है कि रूस की क्रांति में वहां की एक प्रतिशत जनता ने हिस्सा लिया, जबकि भारत की अगस्त क्रांति में देश के 20 प्रतिशत लोगों ने हिस्सेदारी की।

हालांकि जनता का विद्रोह पहले तीन-चार महीनों तक ही तेजी से हुआ। नेतृत्व व दूरगामी योजना के अभाव तथा अंग्रेज सरकार के दमन ने विद्रोह को दबा दिया। 8 अगस्त 1942 को 'भारत छोड़ो' प्रस्ताव पारित हुआ और 9 अगस्त की रात को कांग्रेस के बड़े नेता गिरफ्तार कर लिए गए। नेताओं की गिरफ्तारी के चलते आंदोलन की सुनिश्चित कार्ययोजना नहीं बन पाई थी। कांग्रेस सोशलिस्ट पार्टी का अपेक्षाकृत युवा नेतृत्व सक्रिय था, लेकिन उसे भूमिगत रह कर काम करना पड़ रहा था। कई चरणों और नेतृत्व से गुजरते हुए भूमिगत क्रांतिकारी आंदोलन का गांधी के नेतृत्व में चले जनता के अहिंसक आंदोलन से मिलन भारत छोड़ो आंदोलन में होता है। दोनों की समानता और फर्क के बिंदुओं को लेकर 1857 के पहले स्वतंत्रता संग्राम के साथ भी भारत छोड़ो आंदोलन के सूत्र जोड़े जा सकते हैं।

जेपी ने क्रांतिकारियों का मार्गदर्शन और

हौसला अफजाई करने तथा आंदोलन का चरित्र और तरीका स्पष्ट करने वाले दो लंबे पत्र अज्ञात स्थानों से दिसंबर 1942 और सितंबर 1943 में लिखे। अपने दोनों पत्रों में, विशेषकर पहले में, उन्होंने हिंसा-अहिंसा के सवाल को विस्तार से उठाया। हिंसा-अहिंसा के मसले पर गांधी और कांग्रेस का मत अलग-अलग है, यह उन्होंने अपने पत्र में कहा। उन्होंने अंग्रेज सरकार को लताड़ लगाई कि उसे यह बताने का हक नहीं है कि भारत की जनता अपनी आजादी की लड़ाई का क्या तरीका अपनाती है। उन्होंने कहा कि भारत छोड़ो आंदोलन के मूल में हत्या नहीं करने और चोट नहीं पहुंचाने का संकल्प है। ''अगर हिंदुस्तान में हत्याएं हुईं–और बेशक हुईं–तो उनमें से 99 फीसदी ब्रिटिश फासिस्ट गुंडों द्वारा और केवल एक फीसदी क्रोधित और क्षुब्ध जनता के द्वारा हुई हैं। भारत छोड़ो आंदोलन में अहिंसा-हिंसा के सवाल पर जनता से लेकर नेताओं तक जो विमर्श उस दौरान हुआ, उसका विश्लेषण होना चाहिए। हिंसा के पर्याय और उसकी पराकाष्ठा पर समाप्त होने वाले दूसरे विश्वयुद्ध के बीच एक अहिंसक आंदोलन का संभव होना निश्चित ही गंभीर विश्लेषण की मांग करता है।

भारत छोड़ो आंदोलन दूसरे विश्वयुद्ध के दौरान हुआ। लिहाजा, उसका एक अंतरराष्ट्रीय आयाम भी था। आंदोलन के अंतरराष्ट्रीय पहलू का इतना दबदबा था कि विश्वयुद्ध में अंग्रेजों का साथ देने के औचित्य और भारत की आजादी को विश्वयुद्ध में हुए अंग्रेजों के नुकसान का नतीजा बताने के तर्क भारत में आज तक चलते हैं। अंतरराष्ट्रीयतावादियों के लिए, आजादी के लिए स्थानीय भारतीय जनता का संघर्ष ज्यादा मायने नहीं रखता। आज जो भारतीय जनता की खस्ता हालत है, उसमें आजादी के इस तरह के मूल्यांकनों का बड़ा हाथ है। नेताजी सुभाष चंद्र बोस का आजाद हिंद फौज बनाकर अंग्रेजों को बाहर करने के लिए किया गया संघर्ष भी भारत छोड़ो आंदोलन के पेटे में आता है। अंग्रेजों और स्थानीय विभाजक शक्तियों द्वारा देश के विभाजन की बिसात बिछाये जाने का काम भी इसी दौरान पूरा हुआ। जेपी ने इन सब पहलुओं पर अपने पत्रों में रोशनी डाली है। उन्हें एक बार फिर से देखा जाना चाहिए।

भारत छोड़ो आंदोलन देश की आजादी के लिए चले समग्र आंदोलन का निर्णायक निचोड़ था। विभिन्न स्रोतों से आजादी की जो इच्छा और उसे हासिल करने की जो ताकत भारत में बनी थी, उसका अंतिम प्रदर्शन भारत छोड़ो आंदोलन में हुआ। भारत छोड़ो आंदोलन ने यह बताया कि आजादी हासिल करने की ताकत निर्णायक रूप से जनता की ही थी। हालांकि अंग्रेजी शासन को नियामत मानने वाले और अपना स्वार्थ साधने वाले तत्व भारत छोड़ो आंदोलन के दौरान भी पूरी तरह सक्रिय थे। वे कौन थे, इसकी जानकारी जेपी के पत्रों से मिलती है।

यह ध्यान देने की बात है कि गांधीजी ने आंदोलन को समावेशी बनाने के लिए अखिल भारतीय कांग्रेस कमेटी की बैठक में दिए अपने भाषण में समाज के सभी तबकों को संबोधित किया था–जनता, पत्रकार, नरेश, सरकारी अमला, सैनिक, विद्यार्थी सभी को। उन्होंने अंग्रेजों, यूरोपीय देशों और मित्र राष्ट्रों के नेतृत्व को भी अपने उस भाषण में संबोधित किया था। सभी तबकों और समूहों से देश की आजादी के लिए 'करो या मरो' के व्यापक आह्वान का आधार उनका पिछले 25 सालों के संघर्ष का अनुभव था।

आजादी की इच्छा का विस्फोट

भारत छोड़ो आंदोलन का जो भी घटनाक्रम, प्रभाव और विवाद रहे हों, मूल बात थी भारत की जनता की लंबे समय से पल रही आजादी की इच्छा का विस्फोट। भारत छोड़ो आंदोलन के दबाव में भारत के आधुनिकतावादी मध्यमवर्ग से लेकर सामंती नरेशों तक को यह लग गया था कि अंग्रेजों को अब भारत छोड़ना होगा। अतः अपने वर्ग-स्वार्थ को बचाने और मजबूत करने की फिक्र उन्हें लगी। फलतः प्रशासन का लौह-शिकंजा और उसे चलाने वाली भाषा तो अंग्रेजों की बनी ही रही, विकास का माडल भी वही रहा। भारत का 'लोकतांत्रिक, समाजवादी व धर्मनिरपेक्ष' संविधान भी पूंजीवाद और सामंतवाद के गठजोड़ की छाया से पूरी तरह नहीं बच पाया। अंग्रेजों के वैभव और रौब-दाब की विरासत, जिससे भारत की जनता के दिलों में भय बैठाया जाता था, बाद में भी भारत के शासक वर्ग ने अपनाए रखी। वह उसे उत्तरोत्तर मजबूत भी करता चला गया। गरीबी, मंहगाई, बीमारी, बेरोजगारी, शोषण, कुपोषण, विस्थापन और आत्महत्याओं का मलबा बने हिंदुस्तान में शासक वर्ग का वैभव अश्लील बनता गया। उल्लेखनीय है कि सेवाग्राम और साबरमती आश्रम के छोटे और कच्चे कक्षों में बैठकर गांधी को दुनिया की सबसे बड़ी साम्राज्यशाही से राजनीतिक-कूटनीतिक संवाद करने में असुविधा नहीं हुई। अपना चिंतन, लेखन और आंदोलन करने में भी नहीं।

वायसराय के आदमी

लोहिया ने आजाद भारत के शासक-वर्ग और शासनतंत्र की सतत और विस्तृत आलोचना की है। उन्होंने उसे अंग्रेजी राज का विस्तार बताया है। लोहिया को लगता रहा कि उनकी आलोचना से शासक-वर्ग का चरित्र बदलेगा; तदनुरूप शासनतंत्र में परिवर्तन आएगा और भारत की अवरुद्ध क्रांति आगे बढ़ेगी। लेकिन संसद और उसके बाहर जनता के पक्ष में उनका संघर्ष, शासक-वर्ग की प्रतिष्ठा को नहीं हिला पाया। आज जब हम अगस्त क्रांति की 78वीं सालगिरह मना रहे हैं तो सोचें – किसलिए? क्या हम जनता का पक्ष मजबूत करना चाहते हैं? या स्वतंत्रता आंदोलन के प्रेरणा-प्रतीकों, प्रसंगों और विभूतियों का उत्सव मनाकर उनके सारतत्व को खत्म कर देना चाहते हैं? यह केवल नब्बे के दशक का फैसला नहीं है कि भारत की राजनीति के सारे रास्ते कारपोरेट पूंजीवाद की ओर जाते हैं।

अगस्त क्रांति की पचासवीं वर्षगांठ 1992 में पड़ी। यह वह साल था, जब नई आर्थिक नीतियों के तहत देश के दरवाजे बहुराष्ट्रीय कंपनियों की लूट के लिए खोल दिए गए और एक पांच सौ साल पुरानी मस्जिद को 'राममंदिर आंदोलन' चला कर ध्वस्त कर दिया गया। तब से लेकर अब तक नवउदारवाद और संप्रदायवाद की गिरोहबंदी के बूते भारत का शसक-वर्ग उस जनता का जानी दुश्मन बन गया है, जिसने भारत छोड़ो आंदोलन में साम्राज्यवादी शासकों के दमन का सामना करते हुए आजादी का रास्ता प्रशस्त किया था। जो हालात हैं, उन्हें देख कर कह सकते हैं कि नब्बे के दशक के बाद उपनिवेशवादी दौर के मुकाबले ज्यादा भयानक तरीके से जनता के दमन को अंजाम दिया जा रहा है।

अगस्त क्रांति दिवस के मौके पर हम यह विचार कर सकते हैं कि भारत छोड़ो आंदोलन की तर्ज पर 'बहुराष्ट्रीय कंपनियों, भारत छोड़ो' के नारे क्यों कारगर नहीं होते और क्यों

कारपोरेट पूंजीवाद का कब्जा उत्तरोत्तर मजबूत होता जाता है? क्यों सारे देश को नगर और सारी आबादी को उपभोक्ता बनाने का दुःस्वप्न धड़ल्ले से बेचा जा रहा है? कारण स्पष्ट है, भारत का शासक वर्ग पूरी तरह से कारपोरेट पूंजीवाद का पक्षधर है। देश के नेता, उद्योगपति, बुद्धिजीवी, लेखक, कलाकार, फिल्मी सितारे, पत्रकार, खिलाड़ी, जनांदोलनकारी, नौकरशाह और तरह-तरह के सिविल सोसाइटी एक्टिविस्ट कारपोरेट पूंजीवाद के समर्थन और मजबूती की मुहिम में जुटे हैं। इनमें जो शामिल नहीं हैं, उनके बारे में माना जाता है, उनकी प्रतिभा में जरूर कोई खोट या कमी है। नवउदारवाद और उसके पक्षधरों की स्थिति इतनी मजबूत है कि अब उनकी आलोचना भी उनके गुणों का बखान हो जाती है तथा उनका पक्ष और मजबूत करती है।

जैसा कि हमने पहले भी कई बार बताया है, नवउदारवादियों के साथ प्रच्छन्न नवउदारवादियों की एक बड़ी और मजबूत टीम तैयार हो चुकी है। वह शासक वर्ग के साथ नाभिनालबद्ध है और नवउदारवाद के विरोध की राजनैतिक संभावनाओं को नष्ट करने में तत्पर रहती है। दरअसल, सीधे नवउदारवादियों के मुकाबले प्रच्छन्न नवउदारवादी जनता और समाजवाद के बड़े दुश्मन बने हुए हैं। नवउदारवाद के मुकाबले में उभरे सच्चे जनांदोलनों और समाजवादी राजनीति के प्रयासों को प्रच्छन्न नवउदारवादियों ने बार-बार भ्रष्ट किया है।

मुख्यधारा का मीडिया पूरी तरह नवउदारवादियों और प्रच्छन्न नवउदारवादियों के साथ है, जिसमें नेता और मुद्दे कंपनियों के उत्पाद की तरह प्रचारित किए जाते हैं। नतीजा यह है कि भारतीय मानस संपूर्णता में शासक-अभिमुख यानी नवउदारवादी रुझान का बनता जा रहा है। नवउदारवादी नीतियों से प्रताड़ित जनता भी इस मुहिम की गिरफ्त में है। यह प्रक्रिया जब मुकम्मल हो जाएगी, तो कोई भी बदलाव संभव नहीं होगा। केवल फालतू लोगों का सफाया होगा। हम प्रच्छन्न नवउदारवादियों के इस तर्क के कायल नहीं हैं कि वे सरकार पर दबाव डाल कर गरीबों के लिए जनकल्याणकारी योजनाएं बनवाते हैं। उनकी यह मदद गरीबों को नहीं, कोरपोरेट घरानों को सुरक्षित करती है।

लेखक सोफिया विश्वविद्यालय बुलगारिया में विजिटिंग प्रोफेसर हैं।

राष्ट्रीय तेजस्विता का आकाश था भारत छोड़ो आंदोलन

❑ पंकज श्रीवास्तव

9 अगस्त 1942 के दिन जनता ने एक ऐसी क्रांति की शुरुआत की, जिसने पूरे भारत को अपने चपेट में ले लिया था। आज़ाद होने की चाहत ने कश्मीर से कन्याकुमारी और अटक से कटक तक पसरे शोक को शक्ति में बदल दिया था। महात्मा गाँधी का एक बिल्कुल ही नया रूप दुनिया के सामने आया था, जो कुछ हिंसक घटनाओं से नाराज़ होकर 1922 में असहयोग आंदोलन वापस ले लेने वाले नेता से बिलकुल अलग था। वे पहली बार आम हड़ताल के पक्ष में खड़े थे। उनका भावपूर्ण नारा पूरे देश में गूँज उठा था- करो या मरो! लेकिन महात्मा गाँधी ने किसी ऐसे व्यक्ति या विचारधारा को देशद्रोही नहीं कहा, जो उनके खिलाफ़ थी या असहमत थी। जबकि जनता के लिए उनकी ऐसी कोई भी बात पत्थर की लकीर होती।

भारत छोड़ो आंदोलन कांग्रेस की तेजस्विता का आकाश था। लोग दीवानों की तरह उसका झंडा लेकर सड़क पर उतर पड़े थे। यह दिन अचानक नहीं आया था। सुगबुगाहट दो साल से चल रही थी। 1 सितंबर 1939 को दूसरे महायुद्ध की घोषणा हो गई थी। ब्रिटिश सरकार ने बिना भारतीयों से पूछे भारत को युद्ध में झोंक दिया। इसकी प्रतिक्रिया में कांग्रेस ने प्रांतीय मंत्रिमंडलों से इस्तीफा दे दिया। नारा दिया गया–न एक पाई, न एक भाई। कांग्रेस ने व्यक्तिगत सत्याग्रह शुरू किया जो अक्टूबर 1940 से लेकर जनवरी 1942 तक, यानी लगभग 15 महीने चला। पहले सत्याग्रही विनोबा भावे थे और दूसरे जवाहरलाल नेहरू। धीरे-धीरे कांग्रेस के तमाम बड़े नेता पकड़े लिए गए। लगभग 30,000 लोग जेल गए।

ब्रिटिश सरकार ने भारतीयों का समर्थन पाने के लिए 23 मार्च 1942 को सर स्टीफर्ड क्रिप्स को भारत भेजा, लेकिन कोई नतीजा नहीं निकला। आज़ादी की लड़ाई बहुत आगे बढ़ चुकी थी, जबकि अंग्रेज किसी न किसी बहाने अपना लंगर डाले ही रखना चाहते थे। हालाँकि वे जानते थे कि युद्ध ने उनकी हालत पतली कर दी है। यह युद्ध ही था, जिसने पूरी दुनिया के राजनीतिक समीकरण बदल दिए थे।

वैसे युद्ध की स्थिति में अंग्रेज़ों पर चोट की जाए या नहीं, इसे लेकर कांग्रेस में भी मतभेद था। राजगोपालाचारी से लेकर नेहरू तक नहीं चाहते थे कि युद्ध के दौरान आंदोलन चले। नेहरू खासतौर पर जर्मनी और इटली के फासिस्ट अभियान के खिलाफ थे, जिसका सामना ब्रिटिश कर रहे थे। यूँ तो कांग्रेस हमेशा ही फ़ासीवाद को ख़तरा बताती रही थी, लेकिन महात्मा गाँधी इस अवसर पर निर्णायक चोट करने के पक्ष में थे। 8 अगस्त 1942 को अखिल भारतीय कांग्रेस कमेटी के अधिवेशन में प्रसिद्ध 'भारत छोड़ो' प्रस्ताव पारित हुआ। प्रस्ताव में अहिंसक रूप से जितना संभव हो, उतने बड़े स्तर पर जन संघर्ष का आह्वान किया गया था। हालाँकि यह भी कहा गया था कि अगर कांग्रेस के सभी नेता गिरफ्तार हो जाएँ तो 'स्वाधीनता की इच्छा एवं प्रयास करने वाला प्रत्येक भारतीय स्वयं अपना मार्गदर्शक बने। प्रत्येक भारतीय अपने आपको स्वाधीन समझे, केवल जेल जाने से ही काम नहीं चलेगा।'

9 अगस्त को नेताओं की गिरफ्तारी के साथ ही आंदोलन देशव्यापी होने लगा। शुरुआत में शहरों में श्रमिकों की हड़तालें हुईं, नौजवानों और छात्रों ने उग्र प्रदर्शन किया और जल्दी ही आंदोलन ग्रामीण अंचलों में फैल गया। सरकार ने 538 जगह गोलियाँ चलाईं। मशीनगनों का भी इस्तेमाल हुआ। कम से कम 7000 व्यक्ति मारे गए।

कांग्रेस के तमाम बड़े नेताओं के जेल

चले जाने पर नेतृत्व उन लोगों के हाथ आया, जो गिरफ्तारी से बच गए थे। पार्टी के अंदर एक समाजवादी दल था- कांग्रेस सोशलिस्ट पार्टी, उसके नेता भूमिगत होकर आंदोलन चला रहे थे। इनमें राममनोहर लोहिया, अच्युत पटवर्धन, एस.एम.जोशी प्रमुख थे। 9 अगस्त को बम्बई के गोवालिया टैंक मैदान में अरुणा आसफ अली ने झंडा फहराकर सनसनी फैला दी थी। जयप्रकाश नारायण ने एक गुप्त पत्र कलकत्ता में सुभाषचन्द्र बोस को भेजा था, जिसमें भारत में मार्क्सवादी-लेनिनवादी शैली की क्रांति करने की बात थी, लेकिन जनवरी 1941 में नजरबंद बोस भारत से निकल गए और जर्मनी पहुँच गए।

1942 के आंदोलन ने जनमानस में वाकई बिजली भर दी थी। महात्मा गाँधी महानायक थे। लेकिन कई राजनीतिक धाराएँ इस आंदोलन के खिलाफ़ थीं। 1934 से ही पाबंदी झेल रही कम्युनिस्ट पार्टी युद्ध में रूस के शामिल हो जाने की वजह से अब उसे 'जनयुद्ध' कहने लगी थी। हालाँकि अंग्रेज संशकित थे कि कम्युनिस्ट पार्टी मौके का फायदा उठाकर बोल्शेविक क्रांति जैसी तैयारी कर रही है। 1946 के नौसेना विद्रोह से यह आशंका पुष्ट भी हुई।

मसला सिर्फ कम्युनिस्टों का ही नहीं था। फ़ासीवाद की जीत की आशंका से हर तरफ घबराहट थी। अगस्त 1941 में मृत्यु शैया पर पड़े गुरुदेव रवींद्र नाथ टैगोर विश्वास जता रहे थे कि रूसी ही 'दानवों' को रोकने में समर्थ होंगे। दानव यानी जर्मनी का हिटलर। उधर सुभाषचंद्र बोस हिटलर के सहयोगी जापानियों की फ़ौजी मदद के सहारे भारत को आज़ाद कराने का सपना देख रहे थे। वे महात्मा गाँधी के अहिंसा के सिद्धांत से अलग हो चुके थे। कांग्रेस से उनके बाहर होने का सबसे बड़ा कारण भी यही था। हालाँकि वे गाँधी जी के महत्व को अच्छी तरह समझते थे। अपनी आज़ाद हिंद फौज में उन्होंने गाँधी और नेहरू के नाम पर ब्रिगेड बनाई थी और महात्मा गाँधी को राष्ट्रपिता की उपाधि उन्होंने उसी वक्त दी थी। वे समझते थे कि साम्राज्यवाद के विरुद्ध लड़ाई में देश के हर कोने में आम लोगों को खड़ा करने का चमत्कार करना सिर्फ बापू के ही वश में था। वे इस नवीन भारत के जनक हैं।

उधर पाकिस्तान का प्रस्ताव पारित कर चुकी मुस्लिम लीग ही नहीं, गोलवलकर का आरएसएस भी इस आंदोलन से पूरी तरह अलग रहा। हिंदू महासभा ने तो अंग्रेजी सेना में हिंदुओं की भर्ती के लिए बाकायदा कैंप लगवाए। 4 सितंबर 1942 को महासभा नेता वी.डी. सावरकर ने स्थानीय निकायों, विधायिकाओं और सरकारी सेवा में बैठे हिंदू महासभा के सदस्यों का आह्वान किया कि वे अपने स्थान पर रोजमर्रा के काम करते रहें। महासभा के एक बड़े नेता श्यामा प्रसाद मुखर्जी तो बंगाल की सरकार में मंत्री ही थे।

1942 में जब भारत छोड़ो आंदोलन की पृष्ठभूमि तैयार हो रही थी, तो 8 जून 1942 को गुरु गोलवरकर ने अंग्रेज़ी राज को स्वाभाविक बताते हुए कहा-

'समाज की पतित अवस्था के लिए संघ दूसरों को दोष देना नहीं चाहता। जब लोग दूसरों के सिर पर दोष मढ़ने लगते हैं तब उसके मूल में उनकी दुर्बलता रहती है। दुर्बलों पर अन्याय का दोष बलवानों के माथे मढ़ना व्यर्थ है। दूसरों को गाली देने या उनकी आलोचना करने में अपना अमूल्य समय नष्ट करने की संघ की इच्छा नहीं है। यदि यह हम जानते हैं कि बड़ी मछली छोटी मछली को निगलती है, तो उस बड़ी मछली को दोष देना सरासर पागलपन है। निसर्ग का यह नियम भला हो, बुरा हो, लेकिन सत्य है। यह नियम यह कहने से कि वह अन्यायपूर्ण है, बदलता नहीं।'

यानी संघ के मुताबिक बड़ी मछली ब्रिटेन अगर भारत जैसी छोटी मछली को हज़म कर रहा है तो यह प्राकृतिक नियम के तहत था। फिर भी महात्मा गाँधी या काँग्रेस के किसी भी अन्य बड़े नेता ने आंदोलन के साथ न आने वालों या कांग्रेस का विरोध करने वालों को देशद्रोही नहीं कहा। कल्पना ही की जा सकती है कि अगर गाँधी जी किसी को देशद्रोही कह देते तो उसके माथे पर कलंक का ऐसा टीका लग जाता, जिसे किसी सूरत में मिटाया नहीं जा सकता था। लेकिन वे जानते थे कि असहमत होना देशद्रोही होना नहीं है।

स्वतंत्रता आंदोलन के संकल्पों के आधार पर गढ़े गए नए भारत में अभिव्यक्ति की आज़ादी को इसीलिए सर्वोपरि माना गया। मतभेदों के मंथन से ही नए भारत का नवनीत निकलना था। वैचारिक मतभेद तो कांग्रेस के तत्कालीन राष्ट्रीय नेताओं में आम बात थी। वे खुलकर अपने विचार लिखते भी थे, जिसकी समाचार माध्यमों में खुलकर चर्चा होती थी। सरदार पटेल शुरुआत में कश्मीर को सिरदर्द बताते हुए इससे दूर रहने की वकालत कर रहे थे तो आंबेडकर की राय थी कि जम्मू-कश्मीर का मुस्लिम बहुल इलाका पाकिस्तान को दे दिया जाए। श्यामा प्रसाद मुखर्जी तो 1942 में अंग्रेजों की कृपापात्र सरकार में मंत्री बनकर आंदोलनकारियों का दमन कर रहे थे, पर उन्हें भी देशद्रोही न कहकर नेहरू मंत्रिमंडल में जगह दी गई। लेकिन आज 78 साल बाद 2020 में जब 'करो या मरो' की याद में यह लेख लिखा जा रहा है, तो देश में एक ऐसी सरकार है, जो 'डरो या मरो' की नीति पर चल रही है, जिसके खिलाफ़ बोलना 'देशद्रोह' है। और यह बताने के लिए सरकार से पहले उन्हीं कैंपों में प्रशिक्षित ट्रोल टिड्डी दल की तरह टूट पड़ते हैं, जहाँ कभी महात्मा गाँधी के विरुद्ध अंग्रेजों का साथ देना सिखाया जाता था।

असहमतियों के प्रति सहमति 1942 के आंदोलन का भी निचोड़ है। अगस्त क्रांति ने दुनिया को दिखाया कि आज़ादी मनुष्य का मूल अधिकार है और इसे पाने के लिए भारतीय कोई भी क़ीमत दे सकते हैं। पाँच साल बाद जब आज़ादी मिली और आठ साल बाद जब संविधान लागू हुआ तो उसमें नागरिक अधिकारों को लेकर वे सारे वादे दर्ज हुए, जो भारतीय स्वतंत्रता आंदोलन के मूल में थे। वरना प्रेमचंद की यह बात फिज़ा में थी कि 'जॉन की जगह गोविंद को बैठा देने का मतलब आज़ादी नहीं होता।' फिर भी, आज 78 साल बाद यह ज़रूर पूछा जाना चाहिए कि वर्तमान सत्ता उन नागरिक अधिकारों को कुतरने में क्यों जुटी है? क्यों ऐसा है कि सरकार विरोधी देशद्रोही क़रार दिए जा रहे हैं? 'करो या मरो' के देश में 'डरो या मरो' का नारा कहाँ से आया?

-मीडिया विजिल

भारत का विभाजन और गांधी

❑ पराग मांदले

भारतीयों का इतिहास बोध हमेशा से ही कमजोर और अव्यावहारिक रहा है। यही वजह है कि हमने कभी तथ्यों को संजोने में रूचि नहीं ली। हमारा इतिहास तथ्यों से ज्यादा मिथकों और काल्पनिक कथाओं से भरा हुआ है। दुर्भाग्य से न सिर्फ प्राचीन इतिहास, किंतु देश के आधुनिक इतिहास के सम्बन्ध में भी हमारा वही ढुलमुल रवैया है। इसी का नतीजा है कि देश की स्वतंत्रता, भारत के विभाजन और उसके बाद की घटनाओं के बारे में भी हमारे देश में लोग तथ्यों से ज्यादा काल्पनिक कथाओं की दुहाई देते दिखाई देते हैं।

अंग्रेजों की चालबाजियों और उनके आशीर्वाद से मुस्लिम लीग के अड़ियल टट्टू वाले रवैये और हिंसक वारदातों, देश के अधिकांश नेताओं की अदूरदर्शिता और देश के ही कुछ वर्गों के स्वार्थी रवैये के कारण असंभव लगने वाली कल्पना से एक अनिवार्यता में बदल गये देश के विभाजन का पूरा ठीकरा पिछले 73 सालों से महात्मा गांधी के सिर पर फोड़ा जाता रहा है। जबकि तथ्य यह स्पष्ट करते हैं कि विभाजन गांधीजी के लिए अंतिम विकल्प था और अंत में उन्हें भीषण रक्तपात वाले गृहयुद्ध की तुलना में विभाजन को स्वीकार करने के लिए मजबूर होना पड़ा। लेकिन गांधीजी ने मन से विभाजन को कभी स्वीकार नहीं किया और अंतिम साँस तक उनको यह उम्मीद थी कि किसी दिन यह विभाजन अनावश्यक सिद्ध होकर अर्थहीन हो जाएगा।

गांधीजी का मानना था कि अंग्रेजों को भारत का विभाजन करने का कोई अधिकार नहीं है। उनके अनुसार दो भाइयों की लड़ाई में तीसरे का निर्णायक बनाना आत्मघाती है। शुरू से आखीर तक वे इसी बात का आग्रह करते रहे कि अंग्रेजों को बिना किसी शर्त के भारत से चले जाना चाहिए। विभाजन के मुद्दे पर इसके बाद विचार किया जाए। उन्हें उम्मीद थी कि यदि एक बार देश स्वतंत्र हो गया तो उसके बाद विभाजन का मुद्दा धीरे-धीरे अपनी धार खो देगा। लेकिन मुस्लिम लीग विभाजन पर अड़ी हुई थी। केंद्र की मिलीजुली सरकार में मुस्लिम लीग के मंत्रियों के अड़ियल और अहयोगात्मक रवैये के कारण कांग्रेस के नेता बुरी तरह से परेशान थे। उन्हें लगता था कि इस परेशानी से हमेशा के लिए छुटकारा पाने का एकमात्र उपाय विभाजन ही है। सरदार पटेल और जवाहरलाल नेहरू दोनों इसी नतीजे पर पहुँचे थे। कांग्रेस के अन्य वरिष्ठ नेताओं का भी यही मानना था। उधर अंग्रेज मुस्लिम लीग की बेतुकी और नाजायज मांगों को भी स्वीकार किये चले जा रहे थे। इससे प्रोत्साहन पाकर मुस्लिम लीग के लोगों ने पंजाब, सिंध और बंगाल में दंगे शुरू कर दिये थे। ऐसे में 2 जून 1947 को वायसराय लार्ड माउंटबेटन लंदन से विभाजन की योजना लेकर दिल्ली पहुँचे। कांग्रेस कार्यसमिति ने 3 जून को विभाजन की इस योजना को औपचारिक रूप से स्वीकार कर लिया। हालाँकि वायसराय को लिखे पत्र में यह भी लिखा गया –' संयुक्त भारत में हमारा सदा की भांति अब भी पूरा विश्वास है।... हम हृदय से यह विश्वास करते हैं कि जब वर्तमान आवेग शांत हो जाएंगे, तब हमारी समस्याओं को सही परिप्रेक्ष्य में देखा जाएगा और उसके फलस्वरूप भारत के सब भाग स्वेच्छा से एक हो जाएंगे।' लेकिन कांग्रेस के नेता अच्छी तरह से जानते थे कि यह संभव नहीं होगा और शायद यह बात उन्होंने वायसराय से ज्यादा गांधीजी के लिए लिखी थी, जो शुरू से इस बात पर जोर देते आ रहे थे।

हालाँकि इसी दिन सुबह गांधीजी ने इस बात को फिर से दोहराया था कि भारत के बँटवारे से देश के भविष्य को हानि पहुँचेगी और उन्हें विभाजन की योजना में बुराई के सिवा कुछ भी दिखाई नहीं देता। गांधीजी पर यह भी आरोप लगाया जाता है कि अपने सार्वजनिक जीवन में अनेक मुद्दों पर अनेक बार आमरण अनशन करने वाले गांधीजी ने विभाजन को रोकने के लिए अनशन क्यों नहीं किया। 9 जून को अपने एक लिखित संदेश में उन्होंने कहा – '...मैंने कहा था कि हिन्दुस्तान के दो भाग नहीं होने चाहिए तो उस वक्त मुझे विश्वास था कि आम जनता की राय मेरे पक्ष में है; लेकिन जब आमराय मेरे साथ न हो तो क्या मुझे अपनी राय जबर्दस्ती लोगों के गले मढ़नी चाहिए? ...आज मैं दावे के साथ कह सकता हूँ कि अगर तमाम गैर-मुस्लिम लोग मेरे साथ हों तो मैं हिन्दुस्तान के दो टुकड़े न होने दूंगा। लेकिन आज मुझे स्वीकार करना पड़ता है कि आम राय मेरे साथ नहीं है और इस कारण मुझे पीछे हटकर बैठना चाहिए।'

इससे पहले 3 जून की शाम अपनी प्रार्थना सभा में भी उन्होंने लोगों से आह्वान करते हुए कहा था – 'जो कुछ हुआ है, उसके कारण के लिए आपको अपने भीतर ही देखना चाहिए। सारा दोष अपने नेताओं के सिर पर ही नहीं थोपना चाहिए। ...विभाजन की योजना इसलिए आई कि आपके नेताओं को ऐसा लगा कि लोग उसे चाहते हैं। ...लेकिन अब भी बात इतनी नहीं बिगड़ी है कि कभी सुधर ही न सके। इसका उपाय बहुत कुछ आपके ही हाथ में है।'

किस बात की ओर इशारा कर रहे थे गांधी? दरअसल वे लोगों को उनकी ताकत का अहसास करा रहे थे। वह ताकत, जो अपने हृदय में घृणा और द्वेष नहीं, वरन प्यार रखने से आ सकती थी। उन्होंने लोगों से बार-बार और लगातार इस बात की गुजारिश की कि जमीन का बँटवारा होने के बावजूद वे अपने दिलों का बँटवारा न होने दें। यदि आज किसी मजबूरी में विभाजन को स्वीकार भी करना पड़ रहा है तो वे अपने दिलों में दूसरे पक्ष के लिए इतना प्यार और सद्भावना रखें कि एक दिन उन्हें इस विभाजन की व्यर्थता का अहसास हो। लेकिन हुआ इसके ठीक उलट। जैसे ही विभाजन की स्वीकृति की खबर देश में फैली, पूरे देश में, खासकर पंजाब, सिंध, बिहार और बंगाल में बड़े पैमाने पर दंगे भड़क उठे। प्यार की ताकत के सहारे विभाजन को बेमानी बना देने की गांधी की सीख की जगह, न सिर्फ जमीन पर, बल्कि दिलों में भी लोगों के खून से विभाजन की लकीरें खींच दी गईं।

जब पूरा देश हिंसा की चपेट में धू-धू करके जल रहा था, तब गांधी किस के खिलाफ अनशन करते? उन मुस्लिम लीगियों और उनके

समर्थकों के खिलाफ, जिनके लिए गांधी हमेशा से शत्रु थे और जिनके जेहन में उस समय हैवानियत भरी हुई थी? उस कांग्रेस के खिलाफ, जिसे उन्होंने अपने आंदोलनों और विचारों से देश की स्वतंत्रता की अगुवाई के लिए तैयार किया था और जो आज उनके ही विचारों से अपने-आप को अलग कर चुकी थी? या उन हिंदुओं और सिक्खों के खिलाफ, जो मुस्लिम लीगियों की हिंसा और बर्बरता का उतनी ही हिंसा और बर्बरता से प्रतिउत्तर देने में लगे हुए थे? इतना तो गांधी भी समझ रहे थे कि इस समय इस देश में उनकी पुकार सुनने वाला कोई नहीं है। यदि जनमत उनके अनुकूल होता तो वे किसी की भी परवाह न करके विभाजन के खिलाफ पूरी ताकत से लड़ाई लड़ते। मगर ऐसा था नहीं। जो कुछ लोग उस समय भी विभाजन के विरोध में थे, उनमें से अधिकांश के दिल मुसलमानों के प्रति द्वेष से भरे हुए थे। अपने जीवन के संध्याकाल में क्या गांधी ऐसे लोगों के विचारों से संचालित होते?

ऐसे में गांधी ने वही किया, जो वे ऐसी स्थिति में सर्वोत्तम ढंग से कर सकते थे। अपनी पूरी क्षमता के साथ जितना संभव हो, आपसी द्वेष और घृणा की इस आग को अपने सत्य और अहिंसा के तपबल से बुझाने की कोशिश। पहले नोआखली, फिर बिहार और अंत में दिल्ली। गांधीजी हर कहीं सत्य और अहिंसा पर अपनी असंदिग्ध निष्ठा के सहारे स्थितियों को नियंत्रण में लाने का प्रयास करते रहे। और आश्चर्य नहीं कि जिन इलाकों में हिंसा और दंगों पर काबू पाने में सेना और पुलिस पूरी तरह से असफल साबित हुई, वहाँ गांधीजी के प्रेम, सद्भाव और निश्छलता ने अपना असर दिखाया। लार्ड माउंटबेटन ने इस बात को स्वीकारा कि इन स्थितियों में सेना से अधिक गांधी कारगर हैं, मगर अफसोस कि वे केवल एक हैं। अपनी प्रत्यक्ष उपस्थिति से गांधी स्थितियों को बदलने में बड़ी हद तक सफल हुए, मगर इस विशाल देश में डेढ़ पसली का वह कमजोर व्यक्ति कहाँ-कहाँ पहुँच पाता?

आज स्वतंत्रता की 73वीं वर्षगाँठ मनाते समय यदि हम पुनरावलोकन करते हैं तो साफ दिखाई देता है कि पूरे स्वतंत्रता संग्राम में इस देश का नेतृत्व करने वाले महात्मा गांधी के विचारों और सीखों को तो हमने स्वतंत्रता प्राप्ति की संभावना जागते ही छोड़ दिया था। स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद भी हमारे कर्णधारों ने तथाकथित विकास की खातिर गांधी विचार से ठीक विपरीत राह पकड़ी। इसी का यह नतीजा है कि पाँच ट्रिलियन डालर की अर्थव्यवस्था के सपने देखते हुए समाज के छोर पर खड़े उस अंतिम व्यक्ति के नसीब में आज भी गरीबी, बेकारी, भूखमरी और लाचारी ही है। और हमेशा से उसकी पैरवी करने वाले गांधी की जहाँ तक बात है, कार्यालयों और नोटों पर छपी तस्वीरों के अलावा विभाजन का ठीकरा फोड़ने के लिए उस बूढ़े के सिर का उपयोग हम 73 वर्षों से अनवरत कर ही रहे हैं। ❑

बंटवारे की कहानी, नक्शे की जुबानी

इतिहास झूठे लिखे जा सकते हैं, लेकिन नक्शे अपनी कहानी ईमानदारी से बताते हैं। भारत के बंटवारे की मजबूरी, केवल लीग के आंदोलन और राजनैतिक मांग का नतीजा नही थी। बंटवारा 1946-47 के दंगों का नतीजा था। दंगा यानी डाइरेक्ट एक्शन, सीधा हमला—प्रति हमला—नफरत, विपरीत नफरत, घृणा- विपरीत घृणा, सुपिरियारिटी और कम्पिटीटिव सुपिरियारिटी और साहचर्य से इनकार! मगर इतने से दंगे सफल नही होते। दंगे सफल होने की इजाजत प्रशासन देता है। आज भी दंगाई यही कहता है- तीन दिन के लिए पुलिस हटा दो, फिर बता देंगे। दंगा प्रेमी सरकारें, तीन दिन के लिए पुलिस हटा भी लेती हैं। नक्शा कहता है कि कांग्रेस बंगाल और पंजाब छोड़कर देश भर में जीती। ये गांधी की कांग्रेस है, नेहरू, सुभाष की कांग्रेस है, लेकिन बंगाल और पंजाब में कमजोर रह गयी। जिन राज्यों ने गांधी और नेहरू को नकारा, उन्होंने पाकिस्तान होने की दिशा में कदम आगे बढ़ा दिए। पाकिस्तान का प्रस्ताव पास होता है। देश में सम्प्रदायिक जहर घुलना शुरू होता है। यह जहर घोलने वाले कौन हैं? हिन्दू महासभा और मुस्लिम लीग। 1937 में जब सुभाष कांग्रेस के उच्च लीडर थे, तब नफरतियों को बिल में घुसना पड़ा था। 1941 के चुनाव में इन इलाकों में कांग्रेस फिर पिछड़ती है। मुस्लिम लीग और हिन्दू महासभा हाथ मिलाते हैं। हिन्दू नफरती और मुस्लिम नफरती भाई भाई होकर कांग्रेस को सत्ता से दूर कर देते हैं। अब नफरती दल सत्ता में हैं। चार साल नफरती राजनीति जमकर चलती है। 1945 का चुनाव होता है। बंगाल, खैबर, सिंध में पिछली बार हिन्दू महासभा को सीढ़ी बनाकर सत्ता में आई मुस्लिम लीग खुद के बूते सत्ता में आती है। वे तीन इलाके नक्शे में देखिये। इन्हें ही पाकिस्तान के रूप में मांगा जाने लगा है।

1941 में इन्हें कन्धा देने वाली हिन्दू महासभा को, 1946 में ये दरकिनार कर देते हैं। अब सत्ता की ताकत से दंगे का नंगा खेल खुलकर चलता है। स्टेट की सरकार खुलकर उतर जाए, विभाजन और अनवरत दंगों में से एक का ही चयन करना हो और केंद्र की ब्रिटिश सरकार विभाजन की योजना रख दे, तो? दोष गांधी को? नेहरू को ? और दोष देने वाले कौन? वही महासभाई, जिन्होंने लीग को अपना कन्धा देकर उसकी औकात से ऊंची जगह पर बिठाया। विभाजन की नींव डाली। संविधान सभा के चुनाव में पूरे देश से सिंगल सीट मिली हिन्दू महासभा को। श्यामा प्रसाद मुखर्जी बंगाल में लीग की सरकार के वित्त मंत्री थे। अब वे नेहरू की सरकार में शामिल होते हैं। दंगों की मारी व्यवस्था में अंग्रेज बंटवारे का प्रस्ताव जिस कैबिनेट से पास कराते हैं, उसमें मुखर्जी शामिल है। वही आगे चलकर जनसंघ गठित करते हैं और जीवन भर बंगाल की राजनीति करते करते एक दिन कश्मीर के नारे लगाने लगते हैं। नक्शे से पूछिए। नक्शा चीखता है। बंटवारे की कहानी कहता है। जिस जमीन ने गांधी नेहरू की सोच को नकारा, जिस जमीन ने हिन्दू मुस्लिम या जातीय दल (पंजाब) को तरजीह दी, वह पाकिस्तान हुआ। दोष उस आम मुसलमान को भी न दीजिये। उसके दादों परदादों ने वोट नही किया था। उन्हें वोटिंग राइट ही नहीं थे। बिगाड़ तो उन धनवानों, रसूखदारों और पढ़े लिखों ने किया, जो आज भी कर रहे हैं। नक्शा कहता है कि असली टुकड़े टुकड़े गैंग यही है।

सावरकर और श्यामाप्रसाद मुखर्जी अंग्रेजों के साथ खड़े थे

❑ शम्सुल इस्लाम

भारत छोड़ो आंदोलन की घोषणा के साथ ही पूरे देश में क्रांति की एक लहर दौड़ गयी। अगले कुछ महीनों में देश के लगभग हर भाग में अंग्रेज सरकार के विरुद्ध आम लोगों ने जिस तरह लोहा लिया, उससे 1857 के भारतीय जनता के पहले मुक्ति संग्राम की यादें ताजा हो गईं। 1942 के भारत छोड़ो आंदोलन ने इस सच्चाई को एक बार फिर रेखांकित किया कि भारत की आम जनता किसी भी कुर्बानी से पीछे नहीं हटती है। अंग्रेज शासकों ने दमन करने में कोई कसर नहीं छोड़ी। 9 अगस्त की सुबह से ही पूरा देश एक फौजी छावनी में बदल दिया गया। गांधीजी समेत कांग्रेस के बड़े नेताओं को तो गिरफ्तार किया ही गया, दूरदराज के इलाकों में भी कांग्रेसी कार्यकर्ताओं को भयानक यातनाएं दी गईं।

सरकारी दमन और हिंसा का ऐसा तांडव देश के लोगों ने झेला, जिसके उदाहरण कम ही मिलते हैं। स्वयं सरकारी आंकड़ों के अनुसार पुलिस और सेना द्वारा सात सौ से भी ज्यादा जगह गोलाबारी की गई, जिसमें ग्यारह सौ से भी ज्यादा लोग शहीद हो गए। पुलिस और सेना ने आतंक मचाने के लिए बलात्कार और कोड़े लगाने का बड़े पैमाने पर प्रयोग किया। भारत में किसी भी सरकार द्वारा इन हथकंडों का इस तरह का संयोजित प्रयोग 1857 के बाद शायद पहली बार ही किया गया था।

1942 के भारत छोड़ो आंदोलन को 'अगस्त क्रांति' भी कहा जाता है। अंग्रेज सरकार के भयानक बर्बर और अमानवीय दमन के बावजूद देश के आम हिंदू, मुसलमानों और अन्य धर्मों के लोगों ने हौसला नहीं खोया और सरकार को मुंहतोड़ जवाब दिया। सरकारी आंकड़ों के अनुसार 208 पुलिस थानों, 1275 सरकारी दफ्तरों, 382 रेलवे स्टेशनों और 945 डाकघरों को जनता द्वारा नष्ट कर दिया गया। जनता द्वारा हिंसा बेकाबू होने के पीछे मुख्य कारण यह था कि पूरे देश में कांग्रेसी नेतृत्व को जेलों में डाल दिया गया था और कांग्रेस संगठन को हर स्तर पर गैर कानूनी घोषित कर दिया गया था। कांग्रेसी नेतृत्व के अभाव में अराजकता का होना बहुत अस्वाभाविक नहीं था। यह सच है कि नेतृत्व का एक बहुत छोटा हिस्सा गुप्त रूप से काम कर रहा था परंतु आमतौर पर इस आंदोलन का स्वरूप स्वतःस्फूर्त बना रहा। भारत छोड़ो आंदोलन के खिलाफ सावरकर के नेतृत्व में हिन्दू महासभा ने खुले-आम दमनकारी अंग्रेज़ शासकों की मदद की घोषणा की।

जब पूरा देश देशभक्तों के खून से लहूलुहान था, समस्त देश को एक जेल में बदल दिया गया था, देशभक्त सरकारी संस्थाओं को छोड़कर बाहर आ रहे थे; इनमें बड़ी संख्या उन नौजवान छात्र-छात्राओं की थी, जो कांग्रेस के आह्वान पर सरकारी शिक्षा संस्थानों को त्यागकर यानी अपनी पढ़ाई बीच में ही छोड़कर आंदोलन में शामिल हो गए थे। ऐसे दमन काल में अंग्रेज़ों का साथ देने के लिए सावरकर, जो हिन्दू महासभा के अध्यक्ष थे, ने एक शर्मनाक पहल की। कांग्रेस पर अंग्रेज़ सरकार द्वारा प्रतिबन्ध का जश्न मानते हुए, हिंदू महासभा के सर्वेसर्वा सावरकर ने 1942 में हिन्दू महासभा के कानपुर अधिवेशन में गोरे शासकों के साथ 'उत्साहपूर्वक अनुकूल सहयोग' नीति की घोषणा करते हुए कहा—

'सरकारी प्रतिबंध के तहत जब कांग्रेस एक खुले संगठन के तौर पर राजनीतिक मैदान से हटा दी गयी है तो अब राष्ट्रीय कार्यवाहियों के संचालन के लिए केवल हिंदू महासभा ही मैदान में रह गयी है। हिंदू महासभा के मतानुसार व्यावहारिक राजनीति का मुख्य सिद्धांत अंग्रेज सरकार के साथ उत्साहपूर्वक अनुकूल सहयोग की नीति है, जिसके अंतर्गत बिना किसी शर्त के अंग्रेजों के साथ सहयोग होगा, जिसमें हथियार बंद प्रतिरोध भी शामिल है।'

भारत छोड़ो आंदोलन के साथ ग़द्दारी में सावरकर किस हद तक अंग्रेज़ों के दमन का साथ देने का तय कर चुके थे, इस का अंदाज़ा उन के इन शब्दों से लगाया जा सकता है। 'हिंदू महासभा का मानना है कि उत्साहपूर्वक अनुकूल सहयोग की नीति ही हर तरह की व्यावहारिक राजनीति का प्रमुख सिद्धांत हो सकती है। इस लिहाज़ से इसका मानना है कि पार्षद, मंत्री, विधायक, नगरपालिका या किसी सार्वजनिक संस्था के किसी भी पद पर काम करने वाले जो हिंदू संगाठनवादी दूसरों के जायज़ हितों को चोट पहुँचाए बिना हिंदुओं के जायज़ हितों को आगे बढ़ाने के लिए या उनकी सुरक्षा के लिए सरकारी सत्ता के केंद्रों का उपयोग करते हैं, वे देश की बहुत बड़ी सेवा कर रहे हैं। वे जिन सीमाओं में रहते हुए काम करते हैं, उसे समझते हुए, महासभा यही उम्मीद करती है कि वे परिस्थितियों के मद्देनजर जो कर सकते हैं, करें और अगर वे ऐसा करने में विफल नहीं होते हैं तो महासभा उन्हें धन्यवाद देगी कि उन्होंने अपने आप को दोषमुक्त ठहराया है। सीमाएँ क़दम-दर-क़दम सिमटती जाएँगी, जब तक कि वे पूरी तरह ख़त्म नहीं हो जातीं। सहानुभूतिपूर्ण सहयोग की नीति, जो बिना शर्त सहयोग से लेकर सशस्त्र प्रतिरोध तक तमाम तरह की देशभक्ति की गतिविधियों का रूप ले सकती है, हमारे पास उपलब्ध समय, साधन और राष्ट्रहित के तक़ाजों के अनुसार बदलती रह सकती है।

सावरकर ने यह तक घोषणा कर डाली कि उन्हें ''ब्रिटिश साम्राज्यवाद के ख़िलाफ़ तथाकथित संयुक्त मोर्चे को तोड़ने'' में भी परेशानी नहीं होगी। इससे उनका तात्पर्य यह था कि कांग्रेस के नेतृत्व में अंग्रेज़ों के ख़िलाफ़ जो भारत छोड़ो आंदोलन चलाया जा रहा था, उसे तहस-नहस करने से भी उन्हें कोई फ़र्क नहीं पड़ेगा। हिन्दू महासभा के नेता नंबर दो श्यामा प्रसाद मुखर्जी ने तो हद ही कर दी। आरएसएस के प्यारे इस महान हिन्दू राष्ट्रवादी ने बंगाल में मुस्लिम लीग के मंत्रिमंडल में गृहमंत्री और उप-मुख्यमंत्री रहते हुए अनेक पत्रों द्वारा बंगाल के ज़ालिम अंग्रेज़ गवर्नर को दमन के वे तरीक़े सुझाये, जिन से बंगाल में भारत छोड़ो आंदोलन को पूरे तौर पर दबाया जा सकता था। मुखर्जी ने अंग्रेज़ शासकों को भरोसा दिलाया कि कांग्रेस अंग्रेज शासन को देश के लिए अभिशाप मानती है, लेकिन उनकी मुस्लिम लीग और हिन्दू महासभा की मिलीजुली सरकार इसे देश के लिए वरदान मानती है। अंग्रेज गवर्नर को एक पत्र में इस राष्ट्र-व्यापी आंदोलन को कुचलने के लिए ठोस तरीक़े सुझाते हुए श्यामा प्रसाद मुखर्जी ने यह तक लिखा कि, 'भारतवासियों को अंग्रेज़ों पर भरोसा करना चाहिए। इंग्लैंड की खातिर नहीं, और न ही ऐसे किसी लाभ की खातिर, जो अंग्रेज़ों को इस से होगा, बल्कि प्रान्त की सुरक्षा और स्वतंत्रता बरक़रार रखने के लिए।'

-हस्तक्षेप

यह लौ जलती रहे!

❑ चंचल

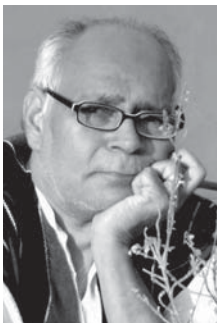

गांधी दुनिया की अकेली शख्सियत हैं, जो तवारीख के अनगिनत पन्नों पर अनगिनत तारीखें छोड़ गए हैं। इन्ही में से एक तारीख है 8 अगस्त सन् 1942 की। आज से 78 साल पहले दर्ज हुई यह तारीख भारत ही नहीं, दुनिया की उन सभी कौमों को रोशनी देगी, जिनमें आजादी और समता की ललक होगी। आइये, सिलसिले वार इस तवारीख के पन्ने खंगालें।

1885 से शुरू हुई कांग्रेस 1916/17 में अचानक एक टर्निंग प्वाइंट पर आकर खड़ी हो जाती है, जब दक्षिण अफ्रीका में अपनी जीत का झंडा गाड़कर एक निहत्था बैरिस्टर अंग्रेजी साम्राज्य को चुनौती देता है और उसे झुकने को मजबूर करता है। प्रसिद्ध पत्रकार और गांधी जी के जीवनी लेखक लुई फ़िशर लिखते हैं - 'अगर उस अंग्रेज के बच्चे को यह मालूम रहता कि वह जिसे ट्रेन के डिब्बे से बाहर फेंक रहा है, वह एक दिन अंग्रेजी सल्तनत को पूरे ग्लोब से ही बाहर फेंक देगा तो वह ऐसी गलती कभी नही करता।'

यही गांधी जब गोपाल कृष्ण गोखले के बुलावे पर भारत आते हैं और कांग्रेस में प्रवेश करते हैं तो कांग्रेस का रुख ही पलट जाता है। गांधी अपने पहले ही संक्षिप्त उद्बोधन में कांग्रेस से शिकायत करते हैं - हम कमरे में बैठकर आजादी के लिए प्रस्ताव पास करा लें और उसे कुछ लिबरल अखबार छाप भी दें तो उसका कोई असर अंग्रेजी साम्राज्य को नही होगा, हमे गांवों की ओर चलना होगा।' चंपारन आंदोलन इसी सोच का नतीजा निकला। एक तरफ किसानों की जीत तो दूसरी तरफ साम्राज्य की भवों का गांधी जी की तरफ़ तनना, दोनों एक साथ हुआ। 'सिविल नाफरमानी' का एक अहिंसक हथियार आम आदमी के हाथ में देकर गांधी ने इतिहास को नई तारीख ही नहीं दी, इंसानी तमीज को एक नई दिशा भी दी।' न मारेंगे, न मानेंगे,' लेकिन जालिम के सामने घुटना भी नही टेकेंगे। जंगे आजादी में अहिंसा का यह प्रयोग देखकर सारी दुनिया चौंक गई।

1939 से लेकर 1947 तक समूची दुनिया के लिए उथल पुथल का काल दर्ज है। हिटलर का घोषित विश्वयुद्ध, जापान-अमरीका के बीच टकराहट, भारत की आजादी की लड़ाई। अगर इतिहास के इस कालखंड की सूक्ष्मतम शब्दों में व्याख्या करनी हो तो 1939 से 1949 तक दस साल गांधी बनाम विश्व का इतिहास है।

एक तरफ़ जब सारी दुनिया हथियार और हिंसा के सहारे स्थापित हो रही थी, तब उसी समय बापू अहिंसा और चरखे की ताकत से भारत के बहाने सारी दुनिया के मुस्तकबिल को गढ़ रहे थे। राजनीति हिंसा बनाम अहिंसा पर थी। राजनीतिक विचार गांधी बनाम मार्क्स पर था। बारूद की आग और अमन का पैगाम बराबर रेस में थे, अंततः जीत गांधी की हुई। अहिंसा की अलख जगी और नया इतिहास उठ खड़ा हुआ। 1939 में अंग्रेजी साम्राज्य के भारत देख रहे वायसराय ने बगैर जन मन की राय लिए भारतीय सैनिकों को विश्वयुद्ध में उतार दिया। यह बात कांग्रेस को नागवार लगी। कांग्रेस ने खुदमुख्तारी का दावा ठोंक दिया।

8 अगस्त 1942 को बॉम्बे में जब बापू ने क्विट इंडिया का नारा दिया तो उसी रात गांधी समेत सारे नेता गिरफ्तार कर लिए गए। देश मे कुल तकरीबन एक लाख के ऊपर लोग गिरफ्तार हो गए। अंग्रेजी सल्तनत को लगा कि अब उसने आंदोलन को रोक दिया है। लेकिन उसका यह भरम जल्द ही टूट गया, जब 9 अगस्त 1942 को दिए गए समय पर गोवालिया टैंक मैदान में कांग्रेस सोशलिस्ट की युवा नेत्री अरुणा आसफ अली ने तिरंगा फहराकर आजादी का बिगुल बजा दिया। पूरा देश जोश से झूम पड़ा और यहां से 42 का आंदोलन समाजवादियों ने अपने हाथ मे ले लिया। डॉ लोहिया, जेपी, मीनू मसानी, अच्युत पटवर्धन, अशोक मेहता और उषा मेहता जैसे तमाम युवा समाजवादी आंदोलन का संचालन करने लगे। गुप्त रेडियो चल पड़ा। पर्चे छपने और बंटने लगे, पूरा देश आंदोलन में कूद गया।

अब यहां से यह देखना और उसकी जांच पड़ताल जरूरी है कि कौन 1942 में कांग्रेस के साथ थे और कौन विरोध में? इतिहास का यह ज्ञानपरक हिस्सा अक्सर अछूता रह जाता है कि सुभाषचंद बोस 42 के भारत छोड़ो आंदोलन में किसके साथ थे? हिंसा और अहिंसा के सवाल पर गांधी जी और सुभाषचंद बोस के बीच मतभेद थे, लेकिन आंतरिक लगाव उसी तरह बना हुआ था। जिन लोंगो ने बापू और सुभाष चंद बोस के बीच बेवजह लकीर खींचनी चाही, अब उनका भेद खुल चुका है। सुभाष चंद बोस का एक प्रसारण बहुत मार्मिक है - 'राष्ट्रपिता! इस लड़ाई में हम आपका आशीर्वाद मांगते हैं, सेनापति तो आप ही हैं'।

जंगे आजादी के समय जो लोग अंग्रेजी साम्राज्य का साथ दे रहे थे, उनमें भारत से ही चुनी हुई वायसराय कौंसिल, मुस्लिम लीग, हिन्दू महासभा, इम्पीरियल पुलिस आर्मी, कम्युनिस्ट पार्टी और भारतीय सिविल सेवा, जम कर पूरी दमदारी से ब्रिटिश हुकूमत के साथ थे और पग पग पर कांग्रेस के भारत छोड़ो आंदोलन की खिलाफत में थे। कांग्रेस का नारा था - क्विट इंडिया, हिन्दू महा सभा के राष्ट्रीय अध्यक्ष सावरकर ने क्विट की जगह इस्टिक इंडिया का नारा दिया। बंगाल में मुस्लिम लीग के साथ मिलकर महासभा ने सरकार बनाई और गांधी जी के करो या मरो के नारे का विरोध किया। 1945 तक आते आते दुनिया की स्थिति कमोबेश साफ होने लगी थी। गांधी जी आगा खां महल में गिरफ्तार कर रखे गए थे। वहां पर गांधी के दो प्रियजनों की मृत्यु हुई। कस्तूरबा जी और गांधी जी के सचिव महादेव देसाई का जेल में ही निधन हो गया। गांधी जी का स्वाथ्य गिरने लगा। अंग्रेजों को यह चिंता सताने लगी कि कहीं गांधी के खून का इल्जाम अंग्रेजी हुकूमत को न लग जाय, वरना इतिहास नहीं माफ करेगा। जिस काम से वे डर रहे थे, उसी काम को नाथूराम गोडसे ने करके दिखा दिया। इसी पर बापू की हत्या के तुरंत बाद लार्ड माउंटबेटन ने कहा—'ब्रिटिश हुकूमत अपने कालपर्यन्त कलंक से बच गई, आपकी हत्या आपके देश, आपके राज्य, आपके लोगों ने की है। यदि इतिहास आपका निष्पक्ष मूल्यांकन कर सका, तो वो आपको ईसा और बुद्ध की कोटि में रखेगा। कोई कौम इतनी कृतघ्न और खुदगर्ज कैसे हो सकती है जो अपने पितातुल्य मार्गदर्शक की छाती छलनी कर दे। ये तो नृशंस बर्बर नरभक्षी कबीलों में भी नहीं होता है और उस पर निर्लज्जता ये कि हमें इस कृत्य का अफसोस तक नहीं है।'

हिन्द पाक बंटवारे पर भी यही जमात, जो 1942 आंदोलन के समय अंग्रेजों के साथ रही, बंटवारे के समर्थन में लीग का साथ देती रही। अब तो सारे दस्तावेज सामने आ चुके हैं, जिन्हें नए और बदले हुए परिप्रेक्ष्य में देखा जाना चाहिए। अगस्त क्रांति की लौ जलती रहे, अहिंसा अविरल बहती रहे, यही कामना है। ❑

शख्सियत

मदनमोहन वर्मा
गांधी का अनूठा सिपाही

❑ प्रेम प्रकाश

दिन के बारह बजे के आसपास का समय है। कचहरी परिसर वादियों और फरियादियों की भीड़ से भरा हुआ है। एसडीएम सदर की अदालत में 151/116 में निरुद्ध कुछ मुल्जिमों की पेशी है। ये लोग जमानत के लिए आये हैं।मुल्जिमों और जमानतदारों की आंखें चुपचाप फाइलों में नज़रें गड़ाए एसडीएम साहब की तरफ एकटक देख रही है कि तभी अचानक फाइल पर से नजरें हटाते हुए एसडीएम साहब मुल्जिमों की ओर एक अजीब सा सवाल उछालते हैं—'तुममें से गांधी जी की आत्मकथा कितने लोगों ने पढ़ी है?' सुनी तो सबने ये बात, पर समझ में किसी के नहीं आयी। गांधी जी की आत्मकथा! ये क्या होता है? कानून की कुर्सी पर बैठे एसडीएम साहब व्यवस्था दे रहे हैं- 'जिसको जिसको जमानत चाहिए, जाओ गांधी जी की आत्मकथा पढ़ के आओ, तब मिलेगी जमानत।' ये कहाँ मिलेगी साहब? एसडीएम साहब मुस्कुराते हुए अपनी अलमारी में रखी किताबों की ढेरी में से कुछ किताबें निकालकर सामने खड़े लड़कों को थमाते हैं, फिर हिदायत देते हैं कि एक हफ्ते में पढ़ के आओ सबलोग ये किताब। इसमें गांधी जी की अपनी कहानी लिखी है। सत्य और अहिंसा के प्रयोग लिखे हैं। पढ़ लोगे तो झगड़ा करना भूल जाओगे, जाओ।

ये वाराणसी सदर में तैनात एसडीएम मदन मोहन वर्मा हैं। एड़ी से चोटी तक गांधी के रंग में रंगे पगे और अबतक के जीवन में जितना गांधी को पा सके हैं, उतना उन्हें अपने आचरण में लिपटाये चिपटाये। मनसा, वाचा कर्मणा तीनों विधियों से; आपादमस्तक गाँधीमय; बोल से, वचन से, काम से, चिंतन से, पठन से, पाठन से, लेखन और अध्ययन से भी। एसडीएम वर्मा को गांधी की लौ लग गयी है। ज्यादा दिन नही हुए, उनमें यह परिवर्तन बीते पांच, छः सालों में ही आया है। अच्छी भली तहसीलदार की नौकरी से प्रमोशन लेकर एसडीएम हुए। हमेशा वरिष्ठों के प्रियपात्र

मदनमोहन वर्मा

रहे। पद, पैसे और प्रभाव का प्रभामण्डल कुछ कम तो नही होता। लेकिन जीवन की आपाधापी के किन्हीं भावनात्मक क्षणों में उनका यह प्रभामण्डल गांधी के आभामंडल के सामने पड़कर अचानक धुंधला-सा पड़ गया। यह चेतना की टकराहट थी। गांधी के सत्य के प्रयोगों से जैसे जैसे गुजरते गए, बानक बदलता गया। अफसरी के सारे ठाट फकीराना होते गए। उन्होंने अपनी कुर्सी पर बैठकर जिस समाज के दर्शन किये, उसमें उन्हें गांधी का चेहरा महसूस हुआ। उन्होंने पाया कि असत्य और हिंसा के झंझावातों से जूझता हुआ समाज अपनी बुनियादी आस्थाओं में आज भी गांधी के मूल्यों पर खड़ा है। कितना भी विभ्रम में जी रहा हो, पर समाज का वास्तविक जेहन अभी गांधी से बहुत दूर नहीं गया है।

जीवन की आपाधापी के किन्हीं भावनात्मक क्षणों में उनका यह प्रभामण्डल गांधी के आभामंडल के सामने पड़कर अचानक धुंधला-सा पड़ गया। यह चेतना की टकराहट थी। गांधी के सत्य के प्रयोगों से जैसे जैसे गुजरते गए, बानक बदलता गया। अफसरी के सारे ठाट फकीराना होते गए। उन्होंने अपनी कुर्सी पर बैठकर जिस समाज के दर्शन किये, उसमें उन्हें गांधी का चेहरा महसूस हुआ। उन्होंने पाया कि असत्य और हिंसा के झंझावातों से जूझता हुआ समाज अपनी बुनियादी आस्थाओं में आज भी गांधी के मूल्यों पर खड़ा है। कितना भी विभ्रम में जी रहा हो, पर समाज का वास्तविक जेहन अभी गांधी से बहुत दूर नहीं गया है।

गांधी की विभूति ने रास्ता दिखाया। उनके हाथ में अधिकार तो ढेर सारे थे, पर किताब एक ही थी; सत्य के प्रयोग। गांधी की आत्मकथा। दिल की लगी यहीं से शुरू हुई। जो किताब उन अभियुक्तों को देकर एसडीएम वर्मा ने इंसान की अच्छाई पर अपनी उम्मीद कायम रखी थी, उन्होंने तय किया कि जहां तक सम्भव हो सके, उस किताब से किसी को महरूम नहीं रहने देना है। बस एक सिलसिला-सा चल निकला। एसडीएम साहब ने किसी और जरिये से नहीं, अपने वेतन के पैसों से गांधी की आत्मकथा खरीदनी और लोगों में बांटनी शुरू कर दी। उनके कार्यालय की अलमारी, उनके घर की बुकशेल्फ और उनकी गाड़ी की पिछली सीटें इस किताब के बंडलों से भरी रहती हैं। क्या पता, कब, कहाँ रास्ते से भटका हुआ कोई नौजवान मिल जाये। बापू की ये किताब पढ़ी है? लो पढ़ो।

इसी किताब की तलाश ने एक दिन अचानक उन्हें सर्व सेवा संघ प्रकाशन के कार्यालय में ला खड़ा किया। और जैसे कि उन्हें कोई मुकाम मिल गया हो। गांधी विचार के प्रसार के निमित्त उन्हें एक सहज केंद्र मिल गया। उनके हाथ गांधी का खजाना लग गया। सत्य के प्रयोग से आगे गांधी को जानने के लिए किताबें और भी हैं। दक्षिण अफ्रीका का इतिहास, हिन्द स्वराज, पूर्णाहुति, सर्वोदय दर्शन, रोमा रोलां, लुई पॉश्चर..कितनी सारी किताबें और कितने सारे लेखक! उनके अध्ययन के लिए बहुत कुछ अब सामने था। वे पढ़ने लगे, पढ़ाने लगे और अपने मित्रों को साथ लेकर आने लगे। रोशनी का एक झरोखा मिला था। एसडीएम साहब ने कहा कि लोगों में

बांटने के लिए सत्य के प्रयोग सबसे ज्यादा उपयुक्त किताब है। लोगों के बीच उनके हाथों बांटी गई आत्मकथा की प्रतियां अब लाखों की संख्या पार कर रही है।

अंबेडकर नगर, उत्तर प्रदेश में पैदा हुए मदनमोहन वर्मा शुरू से ही अध्ययनशील और मेधावी विद्यार्थी रहे हैं। जीवन के इस पड़ाव पर आकर जब उन्होंने देखा कि देश के सामाजिक वातावरण में राजनीतिक प्रभाव ने नफरतों के बीज बोए हैं और आने वाली पीढियां इसके कुप्रभाव से ग्रस्त हो रही हैं, तो उन्होंने पाया कि उम्मीद की रोशनी अगर कहीं ज़िंदा है, तो उस पुंज का नाम महात्मा गांधी है। वे कहते हैं कि इंटरनेट और सोशल मीडिया के जमाने में गांधी के बारे में सही जानकारियां उपलब्ध ही नहीं हैं। इंटरनेट का कोई भी सर्च इंजिन सर्च कीजिये, तो गांधी के बारे में असत्य, अप्रामाणिक और गलत तथा दुर्भावना से भरी हुई फेक सूचनाएं, चित्रों के फोटोशॉप और डॉक्टर्ड वीडियोज़ भरे पड़े हैं, जबकि सही तथ्यों का एकदम अभाव है। हमें यह जिम्मेदारी उठानी चाहिए। सही किताबें, सही सूचनाएं और सही जानकारियां लोगों के बीच ले आयी जानी चाहिए, ताकि भ्रमित करने वाली सूचनाओं के महाजाल में भटकने से पीढ़ियों को बचाया जा सके। जब सही बात हम बताएंगे ही नहीं तो वे गलत ही जानेंगे, क्योंकि गलत करने वाले हमसे अधिक सक्रिय हैं। हर मंच पर, हर प्लेटफॉर्म पर, हर माध्यम पर उनकी पकड़ मजबूत है। दुर्जनों की दुर्जनता का मुकाबला सज्जनता के समर्थ प्रतिकार से ही सम्भव है, ओढ़ी हुई चुप्पियों से नहीं।

अपनी इस सोची हुई दिशा में वे पूरे मनोयोग से लगे भी हुए हैं। वे केवल गांधी की आत्मकथा ही नहीं बांट रहे, जहां भी कार्यरत होते हैं, अपने कार्यक्षेत्र में गांधी की एक प्रतिमा भी वे जरूर स्थापित करते और करवाते हैं। एसडीएम साहब कहते हैं कि गांधी का होना ही नहीं, अब गली गली में गांधी का दिखना भी जरूरी है। ताकि जो उन्हें पढ़ना नहीं चाहते, वे उन्हें देखने से न बच सकें। यह कहकर वे अपना विश्वास जाहिर करते हैं कि कोई कितना भी बुरा आदमी हो, एक बार गांधी की प्रतिमा

इंटरनेट और सोशल मीडिया के जमाने में गांधी के बारे में सही जानकारियां उपलब्ध ही नहीं हैं। इंटरनेट का कोई भी सर्च इंजिन सर्च कीजिये, तो गांधी के बारे में असत्य, अप्रामाणिक और गलत तथा दुर्भावना से भरी हुई फेक सूचनाएं, चित्रों के फोटोशॉप और डॉक्टर्ड वीडियोज़ भरे पड़े हैं, जबकि सही तथ्यों का एकदम अभाव है। हमें यह जिम्मेदारी उठानी चाहिए। सही किताबें, सही सूचनाएं और सही जानकारियां लोगों के बीच ले आयी जानी चाहिए, ताकि भ्रमित करने वाली सूचनाओं के महाजाल में भटकने से पीढ़ियों को बचाया जा सके। जब सही बात हम बताएंगे ही नहीं तो वे गलत ही जानेंगे, क्योंकि गलत करने वाले हमसे अधिक सक्रिय हैं। हर मंच पर, हर प्लेटफॉर्म पर, हर माध्यम पर उनकी पकड़ मजबूत है। दुर्जनों की दुर्जनता का मुकाबला सज्जनता के समर्थ प्रतिकार से ही सम्भव है, ओढ़ी हुई चुप्पियों से नहीं।

देखेगा, तो उसके अंदर की बुराई एक बार को जरूर सहमेगी। गांधी प्रतिमाओं की स्थापना में होने वाले खर्च के लिए वे निरतंर अभियानरत रहते हैं। एक बड़ा हिस्सा वे अपनी जेब से तो खर्च करते ही हैं, समाज के लगभग हर हिस्से को वे इसके लिए प्रेरित भी करते हैं। वे पूछते हैं, जैसे आश्वस्त होना चाहते हों, यही तो है गांधी का तरीका? कि समाज के काम में समाज खुद भागीदारी भी करे।

गांधी की पहली प्रतिमा मदनमोहन वर्मा ने ऊंचाहार, जनपद रायबरेली में अपनी पोस्टिंग के दौरान 2014 में लगवाई। दूसरी प्रतिमा की स्थापना सिद्धार्थनगर में 2017 में करवायी। तीसरी प्रतिमा की स्थापना के लिए उन्होंने अपना घर चुना। अपने पैतृक गांव में अपने घर के सामने खाली सहन में 2018 में जब इस प्रतिमा की स्थापना का काम शुरू किया तो इस प्रश्न पर भाइयों के बीच ही मतभेद उभर आये, पर वे अपने जुनून के पक्के हैं। बहुतेरे वाद विवाद और दिक्कतों परेशानियों के बावजूद अंततः प्रतिमा की स्थापना वहीं की, जहां तय किया था। 2 अक्टूबर 2018 को चौथी गांधी प्रतिमा कचहरी बार एसोसिएशन, वाराणसी की प्रांगण में करवाई। जनपद जौनपुर में अपनी पोस्टिंग के दौरान जब वहां प्रतिमा लगवाने की कोशिशें शुरू कीं, तो प्रशासनिक स्तर पर भी भारी विरोध का सामना करना पड़ा। वह काम एक बार तो रुक ही गया, लेकिन बाद में जब उनका स्थानांतरण वाराणसी हो गया तो स्थानीय नगर पंचायत ने गांधी प्रतिमा की स्थापना का छूटा हुआ काम पूरा कराया। इसी तरह का एक कड़वा अनुभव जौनपुर के बदलापुर क्षेत्र का भी है, जहाँ हुए भारी विरोध के चलते गांधी की लगी हुई प्रतिमा अंततः उखाड़नी पड़ी।

सर्व सेवा संघ प्रकाशन कार्यालय के सामने गांधी की इस प्रतिमा की स्थापना भी एसडीएम मदन मोहन वर्मा की प्रेरणा और उनके सक्रिय सहभाग से ही हो रही है। चबूतरे और प्रतिमा के निर्माण से लेकर उसकी डिजाइन, ढांचा और सजावट तक के पूरे अभियान में उन्होंने हर तबके से सहयोग मांगा और उनकी निरन्तर सक्रियता के परिणामस्वरूप अब यह प्रतिमा भी स्थापित हो चुकी है। अगली प्रतिमा की स्थापना कहाँ कराई जाए, मदनमोहन वर्मा आजकल इस विषय पर सोचने लगे हैं। ❑

कैद में है कवि
वास्तव में हम चुप हो गये हैं

❑ रामजी यादव

बहुत दिनों से मेरे दिमाग में यह बात उमड़-घुमड़ रही है कि सार्वजनिक जीवन में सक्रिय तमाम सारे लोगों को मिलाकर कोई ऐसा नागरिक मंच बनाया जाना चाहिए जो सामाजिक-राजनीतिक उत्पीड़न, मानवाधिकार, जनता के मुद्दों, किसानों, मजदूरों के सवालों और लोकतांत्रिक राजनीति आदि को लेकर इतनी बड़ी संख्या में सड़क पर उतरे कि बहरी से बहरी और बर्बर से बर्बर सरकारें भी चौकस होकर उसकी बात सुनने के लिए मजबूर हो जायें. उसके पास इस देश की व्यापक आबादी से जुड़े मुद्दे हों और उनको लेकर सतत संघर्ष करने का माद्दा हो.

वह मंच ऐसा हो, जिसके पास जन समाजों की वास्तविक तकलीफों का ब्यौरा हो और उनकी जिन्दगी और हालात के अधिकतम सही डाटा हों. उसके पास लोक का वैभव हो और प्रतिरोध की संस्कृति और इतिहास की समझ हो. जाति और धर्म की जटिलताओं की इतनी गहरी समझ हो कि वह इस मामले में प्रगतिशीलता का एक नया छद्म रचने की जगह, इसकी वास्तविकताओं को समझे. उनसे भिड़े और विवादों-संवादों के उठान तक जा सके. वह उन बेईमानियों और मुँहचोरियों की बेबाक आलोचना कर सके, जो पहले से होती आई हैं. उसके पास ऐसी व्यापक समझ हो कि वह किसी भी तरह के तुष्टिकरण और अवसरवाद को पहचान सके. सामाजिक-सांस्कृतिक-राजनीतिक संघर्षों के उन व्यक्तियों को उचित सम्मान दे सके, जिन्होंने पूरा जीवन लगा देने के बावजूद इतिहास से बहिष्कार के सिवा कुछ नहीं पाया. यह मंच जनता के संघर्षों और अधिकारों के साथ ही अपने दौर के राजनीतिक-सामाजिक-सांस्कृतिक योद्धाओं के जीवन और सम्मान के प्रति भी सचेत और सक्रिय हो, जिससे प्रतिरोध की परम्परा अतीत न बन जाए.

हाल के दिनों में सबसे अधिक हृदय-विदारक मुद्दा कवि वरवर राव के स्वास्थ्य को लेकर उठा है और उनके जीवन को लेकर एक बेचैनी और आशंका तमाम साथियों के मन में है कि पता नहीं उनके साथ क्या हो. उनके बारे में सूचना के लिए एकमात्र सक्रिय साधन सोशल मीडिया है, जिसके माध्यम से वरवर राव के बारे में लगातार डरावनी खबरें आ रही हैं. वे स्मृतिभ्रंश के शिकार हो रहे हैं और अवचेतन में पैठी घटनाओं का जिक्र कर रहे हैं. अपनी दैनिक क्रियाएं– नहाना-धोना और खाना भी उनकी चेतना से छूट रहा है. वे कोरोना पॉजिटिव पाए गए हैं. जेल में उनकी देखभाल करने वाला कोई नहीं है. अंततः जेल प्रशासन ने उन्हें मुंबई के जे जे अस्पताल में भर्ती कराया है, लेकिन जब उनसे मिलने घर के लोग

अस्पताल पहुंचे तो वहां का दृश्य बहुत भयावह था. वे अकेले आइसोलेशन में अपने बिस्तर पर अचेत पड़े थे। उनकी देखभाल करने वाला कोई नहीं था. उठने-बैठने में असमर्थ वरवर राव को पेशाब की हाज़त के समय किसी ने मदद नहीं की. वे पेशाब में भींगे हुए अपने बिस्तर पर थे. यह दृश्य जिन्होंने साक्षात् देखा, उनके दिल पर क्या बीती होगी, इसका तो सिर्फ अनुमान ही लगाया जा सकता है लेकिन यह सूचना पढ़कर मैं दुःख, ग्लानि और गुस्से से भर उठा हूं.

वरवर राव कोई सामान्य व्यक्ति नहीं हैं, बल्कि वे एक असाधारण कवि हैं. उनकी कविताओं में इंसानी आज़ादी की वह आवाज और सपना है, जो उन्हें तेलुगु भाषा के एक महान कवि के रूप में प्रतिष्ठित करते हैं। वे केवल धारदार शब्दों और बेधक बिम्बों के किताबी कवि भर नहीं हैं, बल्कि सडकों पर उतरने वाले लड़ाकू कवि हैं. उनके पास विश्वविद्यालय की एक आरामदेह नौकरी थी और वे अपने दौर के लोकप्रिय शिक्षक रहे हैं, लेकिन उन्होंने जनसंघर्षों की सड़क को हमेशा तरजीह दी. बेशक इसका एकमात्र परिणाम जेल था, जिससे उन्होंने कभी भी मुंह नहीं मोड़ा. जेल जाने के मामले में वरवर राव नाजिम हिकमत, अर्नेस्ट जोन्स, बेंजामिन मोलाइस, फैज़ अहमद फैज़, अहमद फराज़, चेराबन्डा राजू जैसे कवियों की कतार में अन्यतम हैं. उनकी एक कविता 'बेताल शव' पुलिस उत्पीड़न, थर्ड डिग्री और हिरासत में मौत का जीता-जागता दस्तावेज है. ज़ाहिर है, वरवर राव बिना झुके इन हालात का सामना करने वाले कवि हैं. उनकी देह के घाव, चेतना से क्रांति की चिंगारी बनकर कविता में उतरते रहे हैं.

इसीलिए दो साल पहले जब भीमा-कोरेगांव की सालगिरह पर हुए जनजुटान पर हिंसा भड़काने के फर्जी मुक़दमे लादकर उन्हें गिरफ्तार किया गया, तब भी अपनी सदाबहार मुस्कान के साथ ही वे जेल गए. उनकी ज़मानत की अर्जी बार-बार ख़ारिज की गई.

वरवर राव एक क्रांतिकारी हैं. कविता उनके लिए क्रांति का हथियार है. 1973 से लेकर आज तक वे अनेक मामलों में जेल गए हैं. उनके ऊपर कई संगीन धाराएँ लगीं हैं, इसके बावजूद उनका मानवाधिकार ख़त्म नहीं हो जाता. वे एक सम्मानित शिक्षक और इस देश के वरिष्ठ नागरिक हैं. उनकी बीमारी में भी उनको जेल में रखने और मानसिक प्रताड़ना देने का कोई तर्क नहीं है. वे कोई आर्थिक अपराधी, तड़ीपार और दंगाई नहीं हैं और न ही उन्होंने किसी प्रकार से इस देश की साधारण जनता के बीच कोई झूठी बात की. न उन्होंने किसी जनविरोधी सरकार का समर्थन किया और न ही किसी प्रकार की सत्तालोलुपता को बढ़ावा दिया. वे तेलुगु साहित्य के अत्यंत प्रखर

आलोचक और सामाजिक–राजनीतिक कार्यकर्ता हैं. देश भर के बुद्धिजीवियों और सामाजिक कार्यकर्ताओं में उनका सम्मान है. बहुत बड़े कवि तो वे हैं ही. वे एक राजनीतिक बंदी हैं और गंभीर रूप से बीमार हैं, इस नाते उनकी देखभाल का जिम्मा अधिक बड़ा हो जाता है. जबकि इसके उलट सच्चाई यह है कि हालात को अधिक जटिल बनाकर उनकी हत्या की कोशिश की जा रही है. लगता है, भारत की वर्तमान सरकार और न्याय व्यवस्था इस बूढ़े और अशक्त कवि से इस कदर खौफ खाते हैं कि यदि इसकी रिहाई हो गई तो यह उनका तख्ता पलट देगा.

क्या मामला सिर्फ वरवर राव का ही है? वह तो उनकी तबियत ख़राब होने के कारण बात सामने आ गई, वरना न जाने कितने ऐसे मुद्दे हैं, जिनपर हमारी निगाह ही नहीं जाती. जिनको लेकर हमारे विचारों और दृष्टिकोण में कोई साफगोई ही नहीं होती. घटनाएँ घटती हैं और हम खामोश बने रहते हैं क्योंकि कोई न कोई ऐसा नैरेटिव हमारे दिमाग में भर चुका होता है कि ऐन सामने बहता हुआ खून हमारे लिए एक रंग से ज्यादा कोई महत्त्व नहीं रखता. कोरोना फैलने के बाद पिछले दिनों मजदूरों के पलायन की भयानक त्रासदी ऐसे ही गुजर गई और आमतौर पर इसे वोट की राजनीति से अधिक महत्त्व नहीं मिला. सड़क पर प्रसव करने के बाद साठ किलोमीटर की पैदल यात्रा करती हुई स्त्री या जनधन खाते में से पांच सौ रुपया निकालने के लिए पचास किलोमीटर पैदल जाने पर खाते में पैसा न आने की सूचना पाकर फिर पचास किलोमीटर पैदल लौटने वाली स्त्री की तस्वीर और कहानी कितनी देर तक हमारे मन में जगह बना सकी?

शायद यह सब तेजी से घटती घटनाओं के बीच मनुष्य के लगातार असहाय बनते जाने की घटनाओं में से एक छोटा सा हिस्सा था, जिनकी व्यापक नोटिस ली जाती, तब तक दृश्य पटल पर दूसरी घटनाएँ चली आईं. सर पर गठरी-मोटरी लादे मजदूरों का काफिला अभी ओझल भी नहीं हुआ था कि अच्छे-खासे मध्यवर्गीय कोरोना के इलाज के लिए अस्पताल दर अस्पताल चक्कर काटते और बिना किसी चिकित्सकीय सहायता के दम तोड़ते दिखे. असली दृश्य यह था और आने वाले दिनों में इसका सामना करना पड़ सकता है. इस सच्चाई ने हमारी संवेदनाओं को सोख लिया. हम राजनीतिक रूप से रोज़-ब-रोज़ बोले जाने वाले झूठ और सफलता की फैलाई जा रही बदहवासी को दिनचर्या में शामिल मान लेते हैं और उसके खिलाफ कोई मोर्चा नहीं खोलते. चुटकुलों और हँसी में अपनी भड़ास को निकालते हुए दिन गुजारते हैं. यह हमारे ख्याल में नहीं आता कि हमारे खिलाफ आज क्या एजेंडा सेट किया गया और कल हमारे जीवन से क्या छीन लिया जाने वाला है?

इसलिए मुझे लगता है कि हमारी चुरा ली गई संवेदना और हड़प ली गई आज़ादी ने हमें इतना पंगु तो बनाया ही है कि विज्ञान और गणित के बावजूद और टेक्नोलाजी के भयंकर विस्तार के बाद भी हमारा कोई मूल्यवान तत्व खो गया है. हम वास्तव में चुप हो गए हैं. जैसे सामूहिकता गायब हुई तो आवाज भी गायब हो गई और बोलने का औचित्य भी. मुट्ठी भर लोग रह गए और बहुत सीमित, चुने हुए मुद्दे बचे. और आवाज कहीं दूर से आ रही है.

-जनपथ

वरवर राव की तीन कविताएं

सीधी बात

लक़ीर खींचकर जब खड़े हों,
मिट्टी से बचना सम्भव नहीं।
नक्सलबाड़ी का तीर खींचकर जब खड़े हों,
मर्यादा में रहकर बोलना सम्भव नहीं।
आक्रोश भरे गीतों की धुन
वेदना के स्वर में सम्भव नहीं।
ख़ून से रंगे हाथों की बातें,
ज़ोर-ज़ोर से, चीख़-चीख़ कर छाती पीटकर
कही जाती हैं।
अजीब कविताओं के साथ में छपी,
अपनी तस्वीर के अलावा
कविता का अर्थ कुछ नहीं होता।
जैसे आसमान में चील,
जंगल में भालू
या रखवाला कुत्ता
आसानी से पहचाने जाते हैं।
जिसे पहचानना है,
वैसे ही छिपाए कह दो वह बात,
जिससे धड़के सब का दिल।
सुगन्धों से भी जब ख़ून टपक रहा हो,
छिपाया नहीं जा सकता
उसे शब्दों की ओट में।
ज़ख़्मों को धोने वाले हाथों पर
भींग-भींग कर छाले पड़ गए
और तीर से निशाना साधने वाले हाथ,
कमान तानने वाले हाथ
जुलूस के लहराते हुए झण्डे बन गए।
जीवन का बुत बनाना
काम नहीं है शिल्पकार का,
उसका काम है पत्थर को जीवन देना।
मत हिचको, ओ शब्दों के जादूगर!
जो जैसा है, वैसा कह दो,
ताकि वह दिल को छू ले।

बेताल शव

लॉकअप से शव को
कन्धे पर उठाए मैं चल रहा हूँ
अपनी मौत की घटना सुनाऊँ?
पूछता है शव
'मेरी मौत सहज थी या हत्या'।

शव और वह भी लॉकअप में
बात कर रहा हो तो
वह हत्या ही हो सकती है—
मैंने कहा।

सत्य कहने पर खुशी हुई,
जीवित आदमी का
लॉकअप में मुँह खोलना ही अपराध है;
इसीलिए वह शव अदृश्य हो गया
और फिर दूसरे लॉकअप में मिला।

कवि

जब प्रतिगामी युग-धर्म घोंटता है
वक्त के उमड़ते बादलों का गला
तब न ख़ून बहता है, न आँसू।
वज्र बनकर गिरती है बिजली,
उठता है वर्षा की बूंदों से तूफ़ान...
पोंछती है माँ धरती अपने आँसू,
जेल की सलाखों से बाहर आता है
कवि का संदेश गीत बनकर।
कब डरता है दुश्मन कवि से?
जब कवि के गीत अस्त्र बन जाते हैं।
वह कैद कर लेता है कवि को,
फाँसी पर चढ़ाता है।
फाँसी के तख़्ते के एक ओर होती है सरकार,
दूसरी ओर अमरता।
कवि जीता है अपने गीतों में
और गीत जीता है जनता के हृदयों में।

पीटीआई
ख़बरों पर सरकारी नियंत्रण की कोशिश!

❑ सीमा चिश्ती

27 अगस्त 1947 को देश के 98 अख़बारों ने मिलकर प्रेस ट्रस्ट ऑफ़ इंडिया की नींव रखी थी और दो साल के अंदर 1949 में इसका कामकाज शुरू हो गया था. ये माना गया था कि एक नए राष्ट्र को एक नई न्यूज़ एजेंसी की ज़रूरत है. ये उम्मीद की गई थी कि समाचारों के प्रचार-प्रसार में इससे मदद मिलेगी और ये चीन की शिन्हुआ और रूस की तास या ईरान की इरना की तरह काम नहीं करेगी, बल्कि स्वतंत्र तरीके से काम करेगी. लेकिन हाल की घटनाओं से ऐसा लगने लगा है कि केंद्र सरकार और प्रेस ट्रस्ट ऑफ़ इंडिया के बीच तनाव हो गया है. इंटरनेट पर प्रोपेगैंडा का एजेंडा चलाने वाले ट्रोल्स पीटीआई के खिलाफ़ लगातार हमलावर हैं, इसकी वजह से बिना शोर-शराबा किए ख़बरें देती रहने वाली न्यूज़ एजेंसी खुद ही ख़बरों में आ गई है. कुछ दिनों पहले सरकारी प्रसारक प्रसार भारती ने राष्ट्रीय हितों को नुक़सान पहुंचाने वाली रिपोर्टिंग के नाम पर पीटीआई को चिट्ठी लिखकर उसकी सेवाएं ख़त्म करने की धमकी दी है.

गलवान की घटना के बाद

भारत और चीन की वास्तविक नियंत्रण रेखा (एलएसी) से लगी गलवान घाटी में 20 भारतीय सैनिकों के मारे जाने के बाद पीटीआई ने नई दिल्ली में चीनी राजदूत और बीजिंग में भारतीय राजदूत के इंटरव्यू प्रकाशित किए थे. प्रसार भारती की चिट्ठी और उसे मीडिया में लीक किए जाने की घटनाएं इन्हीं दोनों साक्षात्कारों के बाद हुईं. ये जानकारी सामने आई कि नई दिल्ली में चीन के राजदूत को अपनी बात रखने का मौक़ा देकर पीटीआई ने भारतीय सुरक्षा प्रतिष्ठानों को नाराज़ कर दिया था और एजेंसी को अल्टीमेटम देने वाली चिट्ठी लिखने के लिए ये वजह काफ़ी थी. इस चिट्ठी पर कई मीडिया विश्लेषकों ने सवाल खड़े किए हैं. मीडिया विश्लेषकों की चिंता तीन मुख्य बातों को लेकर है. एक तो ये कि ख़बर के दूसरे पक्ष को जानने-समझने की कोशिशों को राष्ट्रहित को खिलाफ़ बताया जाना, दूसरा इस चिट्ठी की टाइमिंग और तीसरी बात ये कि सैकड़ों अख़बारों और मीडिया संस्थानों के लिए ख़बरों के एक अहम स्रोत को निशाना बनाया जा रहा है.

पीटीआई पर निर्भरता

भारत के अलग-अलग हिस्सों में अलग-अलग भाषाओं में छपने वाले अख़बार और मीडिया संस्थान कई दशकों से ख़बरों के लिए पीटीआई पर निर्भर रहे हैं. न्यूज़ एजेंसियों में पीटीआई को सूचना के प्रचार-प्रसार के लिए गोल्डन स्टैंडर्ड का माना जाता रहा है, उसकी विश्वसनीयता पर शायद ही कभी कोई उंगली उठी हो, यही वजह है कि कई प्रेस संगठनों ने पीटीआई के साथ इस तरह के सलूक की निंदा की है. प्रसार भारती की इस बात के लिए आलोचना हो रही है, क्योंकि वह एक तरह से यह जताने की कोशिश कर रहा है कि मानो वह पीटीआई पर कोई एहसान करती है. जानकारों का कहना है कि प्रसार भारती सब्सक्रिप्शन फ़ी के नाम पर प्रेस ट्रस्ट ऑफ़ इंडिया को सालाना 6.75 करोड़ रुपये का भुगतान करती है. यह पीटीआई के कुल राजस्व का केवल सात फ़ीसद हिस्सा है. उसके पास कमाई के दूसरे स्रोत भी हैं.

हस्तक्षेप की कोशिश

साल 2020 के वर्ल्ड प्रेस फ्रीडम इंडेक्स की 180 देशों की सूची में भारत 142वें पायदान पर है. उत्तर कोरिया इस लिस्ट में सबसे नीचे यानी 180वें स्थान पर है. चार साल पहले जब लंबे समय से पीटीआई के एडिटर-इन-चीफ़ रहे एमके राज़दान पद छोड़ रहे थे तो 'ऐसे किसी शख़्स की सिफ़ारिश की कोशिशें' हुईं थीं, जो सरकार के नज़रिए को जगह देने के मामले में ज्यादा दिलदार साबित हो.

पीटीआई की निष्पक्षता

एमके राज़दान कहते हैं कि पीटीआई की निष्पक्षता और तटस्था का अंदाज़ा इस बात से लगाया जा सकता है कि सभी राजनीतिक दलों के नेता एजेंसी के नई दिल्ली स्थित मुख्यालय आकर इसके पत्रकारों से संवाद करते रहे हैं. दो राष्ट्रपति प्रोटोकॉल तोड़कर पीटीआई के दफ्तर आए. राष्ट्रपति एपीजे अब्दुल कलाम अपने लैपटॉप के साथ आए और हमें अपने विज़न के बारे में बताया. राष्ट्रपति केआर नारायणन पीटीआई की गोल्डन जुबली पर बीजेपी सरकार की ओर से जारी किए गए डाक टिकट को रिलीज़ करने हमारे दफ्तर आए. इसी तरह चंद्रशेखर प्रधानमंत्री पद की शपथ लेने के बाद सीधे पीटीआई के दफ्तर आए थे. लालकृष्ण आडवाणी उप-प्रधानमंत्री रहते हुए यहां आए, अरुण जेटली सत्ता में हों या विपक्ष में, वे हर साल यहां आते थे. कांशी राम, ज्योति बसु, कांग्रेस और भाजपा के मुख्यमंत्री, मंत्री, सशस्त्र बलों के चीफ़, राष्ट्रीय सुरक्षा सलाहकार, सभी हमारे यहां आते रहे और हमसे संवाद करते रहे हैं, लेकिन सभी ने पीटीआई को एक पब्लिक सर्विस इंस्टीट्यूशन की तरह ही देखा, जो अपनी निष्पक्षता के लिए समर्पित था.

सरकार का नैरेटिव

पुराने लोग बताते हैं कि इमरजेंसी के दिनों में पीटीआई का तीन और एजेंसियों--यूएनआई, हिंदुस्तान और समाचार भारती के साथ विलय करके 'समाचार' नाम की एक एजेंसी बना दी गई थी. ये वे दिन थे, जिन्हें मीडिया के 'अंधा युग' के नाम से भी जाना जाता है. लेकिन इमरजेंसी हटते ही जनता सरकार में सूचना-प्रसारण मंत्री लालकृष्ण आडवाणी ने सभी समाचार एजेंसियों को अलग कर दिया और उनकी स्वायत्ता बहाल कर दी थी.

जनसत्ता के पूर्व मुख्य संपादक ओम थानवी कहते हैं कि अब सरकार को केवल एक ही पक्ष की ज़रूरत है. वह भी उनके अपने नैरेटिव को आगे बढ़ाने के लिए, इसलिए

पीटीआई जैसी एजेंसियों को ख़तरे के तौर पर देखा जा रहा है. पीटीआई हमेशा से एक पेशेवर संस्था रही है और दूसरी न्यूज़ एजेंसियों में सबसे बेहतर भी. लेकिन इसने कभी सरकारों को परेशान नहीं किया है. उन्होंने सरकार के मंत्रियों से अच्छे रिश्ते रखे हैं. प्रिंट और इलेक्ट्रॉनिक मीडिया पर सरकार का काफ़ी दख़ल और नियंत्रण है. वे कहते हैं कि सरकार चाहती है कि न्यूज़ एजेंसियां भी उसके सामने झुक जाएं, चूंकि इन एजेंसियों की पहुँच अंतरराष्ट्रीय स्तर पर होती है. अंतरराष्ट्रीय स्तर पर मोदी की छवि कमज़ोर पड़ रही है, इसलिए मोदी सरकार को आज्ञाकारी न्यूज़ एजेंसियां चाहिए. चीन के साथ संघर्ष के समय पीटीआई निष्पक्ष बना रहा, जबकि दूसरी एजेंसियाँ सरकार का बचाव करती रहीं. निष्पक्ष रहना ही पत्रकारिता है. लेकिन सत्ता में बैठे लोग इन गुणों के मुरीद कब से होने लगे?'

पीटीआई का ढांचा

पीटीआई के बोर्ड में 12 अख़बारों के प्रतिनिधि और प्रकाशक बैठते हैं. साथ ही चार स्वतंत्र निदेशक भी हैं. उन्होंने प्रसार भारती की चिट्ठी या इंटरनेट पर की जा रही ट्रोलिंग पर अभी तक सार्वजनिक रूप से कुछ नहीं कहा है. पीटीआई के बोर्ड में स्वतंत्र निदेशकों के तौर पर अभी तक जस्टिस एचआर खन्ना, ननी पालखीवाला, फ़ली नरीमन और जस्टिस एसपी भरूचा जैसे लोग मनोनीत होते रहे हैं. ये वे लोग हैं, जो अपनी सोच के हिसाब से कहने-सुनने और बोलने के लिए जाने जाते रहे हैं.

जून महीने की 28 तारीख़ को 'द टेलीग्राफ़' अख़बार ने एक रिपोर्ट प्रकाशित की थी, जिसके मुताबिक़ सरकार की मुहिम का अहम पहलू ये था कि सार्वजनिक तौर पर जताई गई नाराज़गी के बहाने ख़बरों के बनने और उनके प्रवाह का तौर-तरीक़ा अपने मुताबिक़ ढाल लिया जाए. इस कड़ी में जो समाचार एजेंसी अपनी बारी का इंतज़ार कर रही है, वह है हिंदुस्थान समाचार. हिंदुस्थान समाचार की स्थापना विश्व हिंदू परिषद के संस्थापक एसएस आप्टे ने साल 1948 में की थी और साल 2014 में मोदी सरकार के सत्ता में आने के बाद इसे पुनर्जीवित करने की कोशिश की जा रही है. **-द वायर**

घुमन्तू जातियों का दर्द समझने की क्षमता इस देश ने खो दी है

❑ **गणेश एन. देवी**

जब मैं छोटा था तो रेडियो पर हेमंत कुमार मुखर्जी का गीत 'जनम-जनम से बंजारा हूँ' सुनता था। इसे सुनकर ऐसा लगता था कि हाथ में इकतारा लिए बंजारों का जीवन कितना स्वच्छंद और कितना आजाद होगा। कॉलेज के दिनों में मैंने लार्ड बायरन की कविताएं पढ़ीं तो लगा कि ये घुमंतू लोग हर तरह की पीड़ा से आजाद होंगे। मैंने घुमंतुओं के जीवन को बहुत रोमांटिक समझा। अपने गांव में मैंने उन्हें इकतारा लेकर गाना गाते हुए, अजीब तरह के कपड़ों में और अनोखी बोली बोलते हुए देखा।

1970 के दशक में पहली बार मैंने लक्ष्मण गायकवाड़ की मराठी में लिखी 'उचल्या-उचक्का' किताबें पढ़ीं तो उसमें अलग जाने का डर रहता था। मैं यह समझ नहीं पाता था कि इतना डर इन बच्चों में कहां से आया? न तो बच्चे और न ही उनके माँ-बाप इस विषय में कुछ भी बोलना पसन्द करते थे। मैंने अस्सी के दशक में घुमंतू समुदायों का इतिहास पढ़ा कि वे कौन हैं, कहां से आए और उनकी स्थिति क्या है? नब्बे के दशक में महाश्वेता देवी से मुलाकात भी की, जिनकी इन समुदायों के जीवन में आस्था थी और जो पश्चिम बंगाल में 'सबर' नामक समुदाय के लिए काम कर रही थीं।

उसी दौर में मैंने अपने कुछ साथियों के साथ मिलकर घुमन्तुओं के लिए काम करना शुरू किया, लेकिन जब सबने अपने द्वारा

सी भाषा थी, उससे मुझे घुमंतुओं के अलग शब्दों के बारे में पता चला। अब तक मुझे यह समझ आने लगा था कि बहुत अलग तरीके से रहने वाले और अलग भाषा बोलने वाले इन घुमंतू लोगों की जिंदगी में परेशानियां हैं, उनका दर्द है, अपनी कथा है।

मैंने विश्वविद्यालय में कंजर-भाट समुदाय के कुछ बच्चों के साथ काम शुरू किया था। ये बच्चे रास्तों से चोरी-छिपे निकलते थे। उनको अपनी जाति पहचाने जाने और पुलिस से पकड़े जुटाई गई जानकारियों को एक दूसरे से साझा किया तो घुमन्तू समुदायों की एक संपूर्ण कथा हमारे सामने खुल गयी। हम अंदर से हिल गए।

उन्नीसवीं सदी में अंग्रेजों ने भारतीय राजाओं के बिखरे हुए सैनिकों को निःशस्त्र बनाने के उद्देश्य से उनकी सूची तैयार करानी शुरू की। ऐसी सूची में जिन समुदायों के नाम आये, उन्हें आपराधिक जनजाति की सूची में रख दिया गया। आपराधिक जनजाति अधिनियम 1871 के तहत यह सूची तैयार की

गई थी, लेकिन इस सूचीकरण की शुरूआत इससे तीस-चालीस साल पहले ही हो गयी थी, जब स्लीमन नामक एक अंग्रेज अफसर ने मध्य भारत में भोपाल से लेकर कलकत्ता तक के अपने करीब बीस साल के काम में कई समुदायों का उल्लेख किया था। पत्थलकार, मूर्ति बनाने वाले, पशुओं का नाच दिखाने वाले, पक्षियों का शिकार करने वाले समुदायों को इस सूची में शामिल कर लिया गया था और इनको सेटलमेंट्स में रखा गया था, जहां से बाहर जाने की अनुमति इन्हें नहीं थी, क्योंकि कई तरह की परेशानियों का सामना भी करना पड़ता था। हम यह सोच रहे थे कि अंग्रेजों ने ऐसा क्यों किया? क्या इसकी वजह सिर्फ अंग्रेजों की बेरहमी थी या अंग्रेजों की सत्ता को घुमंतुओं से कोई खतरा था? या इसका और कोई कारण है?

इतिहास देखने पर यह बात सामने आयी कि इंग्लैण्ड और यूरोप में भी घुमंतुओं की तरफ देखने का रवैया अलग था। उन्हें कम प्रतिष्ठा प्राप्त थी। इसका कारण सत्रहवीं सदी में इंग्लैण्ड और फ्रांस के बीच जारी युद्धों में बड़ी संख्या में सैनिक रखने और उन्हें वेतन देने के लिए बहुत सारे धन की जरूरत थी। धन जुटाने के लिए उन्होंने कर संग्रह के प्रारूप में बदलाव किया। पहले उपजाऊ फसलों पर कर का प्रावधान था, लेकिन अब भूमि मापन के आधार पर कर आरोपण किया गया। जो कर अदा कर सकते थे, समाज में उनकी इज्जत थी और जो भूमिहीन थे, कर अदा नहीं कर सकते थे, समाज में उनकी इज्जत कम होने लगी।

भूमिहीन घुमंतुओं की भी समाज में इज्जत इतनी कम हो गयी कि इन्हें संशय की दृष्टि से देखा जाने लगा। यूरोप के जिप्सी समुदाय को वहां प्रताड़ना सहना पड़ रहा था, इस बात का असर यहां औपनिवेशिक भारत में अंग्रेज प्रशासकों पर भी हुआ। उसके परिणामस्वरूप घुमन्तू लोगों को आपराधिक जनजाति सूची में रख दिया गया।

आजादी के बाद 1952 में इनको विमुक्त किया गया। विमुक्त, घुमंतू और अर्धघुमंतू समुदायों की कुल आबादी आज 12-13 करोड़ के लगभग है, लेकिन आजादी के इतने साल बाद भी इनके पास न रहने को घर है, न इनके बच्चों के पढ़ने के लिए स्कूलों तक पहुँच है। पूरा समाज इन्हें अपराधी की नजर से देखता है। देहात के कई इलाकों में तो संशय की वजह से इन समुदायों के व्यक्तियों की मॉब लिंचिंग तक होती रही है। हमारे समाज में सबसे ज्यादा जुल्म अगर किसी विशिष्ट तबके पर ढाया गया है, तो इनमें अनुसूचित जातियों के साथ-साथ, विमुक्त-घूमंतू समुदाय सबसे आगे है।

संविधान लागू होने के बावजूद आज भी इन्हें सभी नागरिक अधिकार नहीं मिले हैं और आवश्यक दस्तावेज, शिक्षा आदि प्राप्त करने में इन्हें बहुत दिक्कत आती है। इन्हें कोई

व्यवसाय करने में भी दिक्कत होती है, फिर भी किसी तरह से ये अपनी जिंदगी जी रहे हैं। सरकार इनकी कोई मदद नहीं कर रही है तो सरकार से मदद की कोई अपेक्षा किये बिना ही ये अपने रास्ते तलाश रहे हैं।

आज मेक इन इंडिया की बातें हो रही हैं, लेकिन घुमन्तुओं ने बहुत पहले से इसे सीखा और चलाया है। कोरोना महामारी के दौरान प्रवासी मजदूरों की जो हालत हुई है, वह आधुनिक इतिहास का एक काला पन्ना है। मजदूरों को भूखे-प्यासे मरने के लिए छोड़ दिया गया। इसके पीछे वही औपनिवेशिक रवैया है, जो अंग्रेजों ने उन्नीसवीं सदी के अंत में घुमंतुओं के प्रति दिखाया था। अगर कोई सरकार महामारी के समय में मजदूरों की दुर्दशा देखने के बाद भी वैश्विक जगत में अपना गुणगान कर रही है, तो हम कह सकते हैं कि उसकी संवेदना मर चुकी है।

गीतों और सिनेमा में घुमंतुओं के जीवन को देखकर बहुत अच्छा लगता है। बीन की धुन पर कोई नाचता है तो अच्छा लगता है कि एक अच्छी कला आविष्कृत हुई है, लेकिन जिन्हें साल के बारहों मास और सप्ताह के सातों दिन यही काम करने की सजा मिली है, उनके लिए यह न कोई सिनेमा है, न कोई गाना है, न कोई कला है, न कोई आनंद है। यह केवल सज़ा है।

नागरिकता संशोधन विधेयक में बांग्लादेश में रह रहे चौदह छोटे-छोटे अल्पसंख्यक प्रवासी जनजातीय समूह, जो बांग्लादेश से भारत की सीमा में आते-जाते रहते हैं, का कोई जिक्र नहीं था। हमने इनको वह विकल्प क्यों नहीं दिया, जो बांग्लादेश के अन्य अल्पसंख्यकों को दिया? ब्रह्मपुत्र के बहाव के रास्ते बदलते रहते हैं। इससे इसके किनारे रहने वाले लोग हज़ारों सालों से एक जगह से दूसरी जगह प्रवास करते रहते हैं। कभी ये बांग्लादेश, कभी म्यांमार तो कभी असम में आते-जाते रहते हैं। इस कानून में इनके बारे में कोई ध्यान नहीं दिया गया। करीब दो साल पहले कश्मीर में आठ साल की एक बकरवाल समुदाय की लड़की का बलात्कार किया गया और बलात्कारियों को नहीं पकड़ा गया। इसके पीछे एक वजह यह भी थी कि लड़की घुमंतू समुदाय की थी। घुमंतुओं के साथ प्रशासन का रवैया ठीक नहीं होता है। घुमन्तू जातियों के दर्द को समझने की क्षमता इस देश के ज्यादातर नागरिकों ने खो दी है और इनके लिए कोई न्याय हो, इस संबंध में सारी उम्मीदों को भारत सरकार ने नकार दिया है। हमारा पिछले अस्सी साल का इतिहास अगर हमें दिखाई देता है और हमारे सीने में अगर दिल है तो शर्म से हमें अपनी गर्दन झुका लेनी चाहिए। ❑

कॉमन सिविल कोड
इतिहास के हवाले से

❑ मनीष सिंह

कस्तूर, तुम अब मेरी ब्याहता नही, रखैल हो!

मोहनदास के ये शब्द सुनकर कस्तूर को झटका लगा। वह पलटकर चिल्लाईं — आप कैसी बात करते हैं? कुछ भी कहते हैं? बच्चों के सामने? दिमाग खराब हो गया है आपका?

गांधी अखबार टेबल पर फ़ेंकते हुए हंसे। 'अरे, यह मैं नही, जनरल स्मट्स का नया कानून कह रहा है। उसने क्रिश्चियन तरीके से हुई शादियों को छोड़कर बाकी सभी प्रकार की शादियां अवैध करार दे दी हैं।'

अब कस्तूर को बात समझ में आयी। पूछा - 'तो क्या हमें चर्च में जाकर फिर से शादी करनी होगी'?

'नहीं। हम लड़ेंगे, यह कानून स्मट्स को बदलना होगा। हम अपनी धार्मिक और परम्परागत रवायतों की रक्षा के लिए लड़ेंगे। हम सत्याग्रह करेंगे'—गांधी की धीमी महीन-सी आवाज कमरे की दीवारों से टकराकर गूंज रही थी। इसकी गूंज, दक्षिण अफ्रीका के तानाशाह शासक, जनरल स्मट्स की कुर्सी हिलाने वाली थी।

अब सवाल यह है कि आप ब्याह कैसे करना चाहेंगे? फेरे लेकर? कबूल है- कबूल है कहकर? पादरी के सामने गले लगकर? या मजिस्ट्रेट के सामने पेपर पर दस्तखत करके? आपकी पसंद चाहे जो हो, क्या सरकार को अधिकार है कि वह शादी के किसी और तरीके को वैध कर दे? और दीगर तरीके अवैध? भारत का संविधान बना तो इन सवालों पर संविधान सभा को सोचना था, संसद को सोचना था। तय यही हुआ कि सत्ता धार्मिक और परम्परागत तरीकों में हस्तक्षेप नही करेगी। शादी आपने अपनी रवायत के अनुसार फेरे लेकर की, या हलफ लेकर, उसे कानूनी मान्यता होगी।

यही पर्सनल लॉ है। यह विवाह से शुरू होता है, परिवार की परिभाषा तय करता है, उत्तराधिकार की जो रवायतें उस कौम या धर्म के अनुसार हों, उन्हें यथावत स्वीकार करता है, और मान्यता देता है। उसके अनुसार ही रवायतों की इज्जत करते हुए कानून के नियम बनते हैं। हिन्दू अनडिवाइडेड फेमली का पैन कार्ड तो सुना होगा आपने, बनवाया भी होगा?

आजकल यूनिफार्म सिविल कोड को लेकर बहस है। अधिकांश सिर्फ शब्दों में ही उलझे हैं। एक देश, एक संहिता! ये जनरल स्मट्स के वंशज हैं। ये तय करेंगे कि आपको

ऐसे नहीं, वैसे जीना है, जैसे ये बतायेंगे। शादी कबूल करके होगी या फेरे लेकर, सबके लिए एक ही सिस्टम होगा इनके ड्राफ्ट में। पर्सनल लॉ किसी का व्यक्तिगत (निजी/पर्सनल) कानून नही है। यह उक्त समाज के पर्सन्स (पीपुल/पर्सनल्स) के बीच सदियों से चली आ रही रवायतें है, जिन्हें शासन ने लीगल उद्देश्य के लिए वैध माना है।

हां, यह सही है कि कानून द्वारा रवायतों के बीच पल रही बुराइयों को अनदेखा नहीं किया जा सकता। कानून सतीप्रथा को आपकी परम्परा नही मान सकता, वह हत्या है। वह दहेज, अस्पृश्यता के निवारण के लिए नियम बनाता है, जो हर धर्म पर लागू है। एससी-एसटी में कोई जातिगत गाली दे, तो वह मुसलमान हो या पारसी, जेल जाएगा। फिर भी तमाम कन्फ्यूजन हैं मुस्लिम पर्सनल लॉ बोर्ड को लेकर। किसी देश की गुणवत्ता इससे नापी जाती है कि अपने अल्पसंख्यकों की निजता की रक्षा वह कितनी शिद्दत से करता है। यह लॉ बोर्ड सरकार के पास एक विंडो है, जो उनकी निजी रवायतों की समझ बनाने के लिए सलाहकार का काम करता है।

मुसलमान कितनी शादी करते हैं, कैसे तलाक लेते है, यह सारी बहस बस इन दो बिंदुओं पर टिकी है। अधिकतर लोग यह भी समझते हैं कि शायद मुसलमानों के लिए कोई अलग से आईपीसी/सीआरपीसी है। अज्ञान और उकसावे में अनावश्यक और गैरजरूरी मुद्दे 70 साल से देश की छाती पर मचल रहे हैं।

शाहबानो केस का जिक्र होता है। शाहबानो समृद्ध घर की स्त्री थी। उसे पैसों की जरूरत नही थी, केवल पति को हराना था। वह सुप्रीम कोर्ट तक लड़ी, 200 रुपये के मेन्टेनेंस खर्च के लिए। मौलाना लोग कोर्ट के फैसले को अपनी रवायतों में अतिक्रमण मानकर लॉबीइंग करने लगे। राजीव गांधी ने माना कि ये लोग गड्ढे में रहना चाहते हैं, तो रहें।

आप भी यही मानिए। मुस्लिम महिलाएं बुरके में रहें या हिजाब में, यह उन पर छोड़िये। महिला सशक्तिकरण की चिंता है, तो पहले अपने घर में इज्जत दीजिये, मां-बहन की गाली देना बंद कीजिए। हिन्दू या मुस्लिम या किसी भी महिला पर अत्याचार हुआ, तो डोमेस्टिक वायलेंस एक्ट है। सब पर लागू है।

बहरहाल गांधी ने सत्याग्रह किया। खूब शोर हुआ। गांधी जेल गए। यह 1912-14 का दौर था। जिसके अंत मे गांधी भारत लौटे। जनरल स्मट्स ने चैन की सांस ली। जाते जाते गांधी ने अपनी चप्पलें स्मट्स को गिफ्ट भेजीं, जो उन्होंने जेल में पहनी थीं। स्मट्स को अटपटा लगा होगा। तब तो नहीं, मगर बरसों बाद उन्होंने गांधी को लिखा—

'I have worn these for many a summer, even though I may feel that I am not worthy to stand in the shoes of so great a man.'

आप आज, गांधी के हत्यारों के साथ मिलकर, गांधी की उन चप्पलों को तोड़ने पर आमादा हैं। ❑

'Sarvodaya Jagat' Hindi Fortnightly
Registered under RNI No. 35495/78, Postal Registration No. VSI-(E) 04, Valid upto 31 December 2020
Issued by S.S.P.O. Varanasi (East Division)

कविताएं

बेयालीस के साथी

❑ रमाकांत द्विवेदी 'रमता'

साथी! ऊ दिन परल इआद,
नयन भरि आइल ए साथी!
गरजे-तड़के-चमके-बरसे,
घटा भयावन कारी,
आपन हाथ आपु ना सूझे,
अइसन रात अन्हारी,
चारों ओर भइल पनजँजल,
ऊ भादो-भदवारी,
डेगे-डेग गोड़ बिछिलाइल,
फनली कठिन कियारी,
केहि आसा बन-बन फिरलीं,
छिछियाइल ए साथी!
हाथे कड़ी, पाँव में बेड़ी,
डाँड़े रसी बन्हाइल,
बिना कसूर मूँज के अइसन,
लाठिन देह थुराइल,
सूपो-चालन कुरुक कराके,
जुरमाना असुलाइल,
बड़ा धरछने आइल,
बाकी ऊ सुराज ना आइल,
जवना खातिर तेरहो करम
पुराइल ए साथी!
भूखे पेट बिसूरे लइका,
समुझे ना समुझावे,
गाँथि लुगरिया रनिया झुरवे,
लाजो देखि लजावे,
बिनु किवाड़ घर कुक्कुर पइसे,
ले छुछहँड़ ढिमिलावे,
रात-रात भर सोच फिकिर में,
आँखी नीन न आवे,
ई दुख सहल न जाय,
कि मन अबियाइल ए साथी!
क्रूर-सँघाती राज हड़पले,
भरि मुँह ना बतिआवसु,
हमरे बल से कुरुसी तूरसु,
हमके आँखि देखावसु,
दिन-दिन एने बढ़े मुसीबत,
ओने मउज उड़ावसु,
'पाथर बोझल नाव, भँवर में,
दइवे पार लगावसु,'
सजगे इन्हिको अन्त काल,
नगिचाइल ए साथी!
साथी ऊ दिन परल इयाद,
नयन भरि आइल ए साथी!

नौ अगस्त, 42

❑ हरिवंशराय बच्चन

नौ अगस्त!
नौ अगस्त!
नौ अगस्त!
क्रांति की ध्वजा उठी,
जाति की भुजा उठी,
निर्विलम्ब देश, एक हो खड़ा हुआ समस्त।
नौ अगस्त!
नौ अगस्त!
नौ अगस्त!
हाट हिटलरी लगी,
नग्न नीचता जगी,
मुल्क ने सहा, कठोर ज़ोर-जुल्म ज़बरदस्त।
नौ अगस्त!
नौ अगस्त!
नौ अगस्त!
देश चोट खा गिरा,
अत्ति-आपदा घिरा,
और बंद जेल में, पड़े हुए वतन-परस्त।
नौ अगस्त!
नौ अगस्त!
नौ अगस्त!
पर न हो निराश मन,
क्योंकि क्रूरतम दमन
भी कभी न कर सका, स्वतंत्र राष्ट्र-स्वप्न ध्वस्त!
नौ अगस्त!
नौ अगस्त!
नौ अगस्त!

बलिया

❑ महेन्द्र भटनागर

यह जन-गढ़ है अविजित-दुर्दम,
खेल नहीं टकराना,
इसने न कभी अत्याचारों के आगे
झुकना जाना!
हिमगिरि उच्च-शिखर-साद्ध वसुधा पर
अविचल आज़ाद खड़ा,
पशुबल की 'गोरी' सत्ता से,
क़दम-क़दम पर अड़ा-लड़ा!

मानवता का जीवित प्रतीक,
आज़ादी हित मतवाला,
पड़ न सकेगा इसके मुख पर,
साम्राज्यवाद का ताला!

आज जवानों ने खोल दिए हैं,
दृढ़ सीने फ़ौलादी,
इन्क़लाब के चरण थके कब,
जब ज्वाला ही बरसा दी!

तुम आँधी बन बढ़ते जाओ,
साहस से, उन्मुक्त-निडर,
तुम पर बंदी माँ की ठहरी है,
रक्षा की आस अमर!

शोषित जन-जन साथ तुम्हारे,
अगणित कंधों का बल,
शत-शत कंठों का विजयी स्वर,
गूँज रहा निर्भय अविरल!

खेतों-खलिहानों में गिरता,
जो शव-रक्त तुम्हारा,
उससे फूटेगा, आज़ादी का
नूतन कोंपल प्यारा!

आगामी सदियाँ समझेंगी
उसको निज प्राणों की थाती,
रोज़ जलेगी धरती पर,
बलिदानों की स्मृति-बाती! ❑

सर्व सेवा संघ (स्वत्वाधिकारी) के लिए प्रकाशक अरविन्द अंजुम द्वारा सर्व सेवा संघ परिसर, राजघाट, वाराणसी (उ.प्र.) 221001 से प्रकाशित तथा महावीर प्रेस, भेलूपुर, वाराणसी से मुद्रित। संपादक : बिमल कुमार